भारतीय शासन विधान

[नवीन भारतीय संविधान का अबतक के संशोधनों से युक्त
तुलनात्मक अध्ययन]

लेखक :—
श्री शिवदेव उपाध्याय "सतीश"
बी० ए० बी० एल०
(भू० पू० सम्पादक "विश्वमित्र")

प्रकाशक
बम्बई बुक डिपो
१६५।१ हरिसन रोड,
कलकत्ता—७

प्रथम संस्करण

विजयादशमी

२००८

मूल्य साढ़े तीन रुपये

मुद्रक—

रलियाराम गुप्ता

दि बङ्गाल प्रिंटिंग वर्क्स

नं० १, सिनागोग स्ट्रीट,

कलकत्ता ।

प्रस्तावना

स्वतंत्र भारत का संविधान विगत २६ जनवरी १९५० ई० से कार्यान्वित हुआ है। विश्व के प्रमुख देशों के विधानों की तुलना में हमारा विधान जटिलतम एवं विशालतम है, ऐसा हमारे संविधान के कतिपय आलोचकों का मत है। कतिपय आलोचकों के मतमें हमारा संविधान अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य देशों के विधानों का अनुकरण मात्र है। इस प्रकार की और भी कितनी ही आलोचनाएँ भारतीय संविधान की कीजाती हैं। भारतीय संविधान लेखक-समिति के अध्यक्ष डा० अम्बेदकर ने इन आलोचनाओं का उत्तर देते हुए कहा था कि, "विगत २०० वर्षों के अन्तर्गत इतने संविधानों की रचना हुई है और उनके विभिन्न पहलुओं पर इतने विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जाचुका है कि संविधान-विषयक किन्हीं नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन अथवा किसी सर्वथा नूतन संविधान की रचना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही"। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत में इतनी जटिल और इतनी व्यापक समस्याएँ खड़ी कर दी गयीं, कि उन सब के समाधान के प्रयास में विधान को जटिल और विशाल होने से भी बचाया नहीं जासकता था। संविधान के कतिपय उपबन्ध निश्चय ही छोड़े जासकते थे और कतिपय विषयों का

उल्लेख भी संविधान द्वारा नहीं, पृथक अधिनियमों द्वारा किया जासकता था फिर भी संविधान में उनका उल्लेख उसे केवल विशालकाय बनाता है, दोषपूर्ण नहीं। ऐसे विषयों का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में यथा स्थान कर दिया गया है।

भारतीय संविधान एक विशद लेख्य है और अन्य देशों के संविधान का कोरा अनुकरण नहीं, प्रत्युत भारतीय परम्परागत लोकतंत्रात्मक सिद्धान्त के अनुरूप ही है। भारतीय शासन नीति के आचार्यों ने राजतंत्र के साथ गणतंत्र के अद्भुत सामञ्जस्य की कल्पना की थी और नीचे से—ग्राम पंचायतों से उठते हुए उच्च राजनीतिक सत्ता सञ्चालन की कल्पना आज जो वैधानिक विकास अथवा राजनीतिक चेतना की चरम सीमा बतायी जाती है, उसे भी प्राचीनकाल में अनेक अञ्चलों एवं प्रदेशों में कार्यान्वित किया जाचुका था और भारतीय शासन नीति के अनेक ग्रन्थों में उसका विशद वर्णन है। नागरिकों के मौलिक अधिकार, मतदान की गूढ़ शलाकाएँ, राष्ट्र और राष्ट्र के संविधान के प्रति शासक का निष्ठा-निवेदन, आदि अनेक विषयों का निर्विवाद उल्लेख महाभारत तथा शासन नीति विषयक अन्य ग्रन्थों में है। मंत्रि-परिषद् का उदाहरण भी संसार को ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल-प्रणाली की देन नहीं है, भारत के प्रायः सभी महत्व के शासन-नीति के ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। कालचक्र से जिस प्रकार भारत और चीन के स्थान पर रोम और ग्रीस सभ्यता के आदि प्रवर्तक के गौरवमय आसन पर आसीन होचले, उसी प्रकार

भारतीय शासन नीति भी केवल कतिपय पुरातत्वान्वेषियों की खोज की सामग्री बन गयी। ह्वेन सांग, फाह्यान, मेगस्थनीज और बर्नियर जैसे पर्यटकों तथा शोपेनहर जैसे दार्शनिकों की बात अलग है, अधिकांश विदेशी इतिहासकारों ने तो भारत को काँगो-जैसा नरभक्षक देश ही बना डाला और अँगरेज लेखकों की चाटुकारी करनेवाले अमेरिकन और फ्रान्सीसी लेखकों ने इस भारत-भूमि को सांपों, सिंहों और विषैले कीटाणुओं का ही देश घोषित कर दिया। विदेशी शासन के अनेक अभिशापों की भाँति ही यह भी एक अभिशाप रहा है; जिससे भावी इतिहासकार इस देशको मुक्त करेगा।

नवीन संविधान द्वारा भारत पूर्ण स्वतंत्र गणराज्य है। संविधान द्वारा राजनीतिक सत्ता का श्रोत जनता है और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये निश्चित उपबन्ध तथा उनके उपभोग की सुविधा के लिये संविधानिक उपचार भी संविधान में दिये गये हैं। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा भारत के बीच में केवल शाही राजमुकुट ही एक शृङ्खला है जिसके द्वारा भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से संयुक्त है। तो क्या ऐसी स्थिति में विधानतः भारत पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र कहा जायगा? राज मुकुट की शृङ्खला द्वारा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में आबद्ध क्या वह साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेश की ही स्थिति में अब भी नहीं है? कतिपय आलोचकों का यह कथन है। ऐसे आलोचक केवल शाब्दिक युद्ध कर रहे हैं। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की तो बात ही क्या,

स्वयं ब्रिटेन में ही सम्राट की क्या स्थिति है? अनेक वर्ष पूर्व बेगहाट ने लिखा था कि पार्लमेण्ट से बिना परामर्श किये ही साम्राज्ञी विक्टोरिया, आरक्षी बलों का विघटन कर सकती थी, युद्ध छेड़ सकती थी, प्रत्येक नागरिक को सामन्त और प्रत्येक कैदी को मुक्त कर सकती थीं। किन्तु मैग्नाकार्टा से लेकर अन्त में शासन और राजनीतिक सत्ता का श्रोत पार्लमेण्ट और जनता में इस प्रकार हस्तान्तरित होता गया कि उन दोनों की उपेक्षा करनेवाले राजमुकुटों को धूलि-धूसरित होना पड़ा है और राजाओं को फाँसी के फन्दे में शान्ति मिली अथवा शरणार्थी के रूप में विदेशों में आश्रय। इसीलिये वर्तमान स्थिति का उल्लेख करते हुए सिडनी लों ने लिखा है कि शाही राजमुकुट "केवल एक सुविधाजनक कार्यकारी कल्पना है।" मुनरो ने इसीलिये लिखा है कि शाही मुकुट "एककृत्रिम अथवा वैधानिक व्यक्तित्व है, यह न तो मूर्तिमन्त है और न नाशवान" और इसीलिये कहावत प्रचलित है कि "राजा मर चुका है, राजा चिरजीवी हो।" फिर भी अँगरेज जाति ने राजतंत्र को सुरक्षित रखा है और इसके अनेक कारण हैं, जिनका विशेष उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के लिये इसकी क्या आवश्यकता है, इस सम्बन्ध में जेनरल स्मट्स ने एक बार कहा था, "ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल को आप गणतंत्र नहीं बना सकते।" किन्तु वस्तुतः वैधानिक स्थिति राष्ट्रमण्डल के राष्ट्रों की यह है कि वे पूर्ण स्वतंत्र हैं और ब्रिटेन उनमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। शाही राज-मुकुट केवल सांकेतिक शृङ्खला है – प्रतीक मात्र है।

भारतीय संविधान के अनेक अंशों की आलोचना प्रस्तुत पुस्तक में यथा स्थल की गयी है और उसमें हमारा दृष्टिकोण सर्वथा रचनात्मकरहा है। अनेक स्थलों पर अन्य देशों के वैधानिक उपबन्धों के साथ भारतीय संविधान के उपबन्धों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। हिन्दी में राजनीतिक साहित्य का आज भी अत्यन्त अभाव है। किन्तु जिस संविधान का सम्बन्ध देश के कोटि-कोटि नरनारियों से हो, उसकी अधिकाधिक जानकारी प्रत्येक नागरिक के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा इस अभाव की कितनी पूर्ति हो सकेगी, यह हम नहीं कह सकते, किन्तु ऐसे अनेक ग्रन्थों की आवश्यकता है जो इस विषय पर अधिकाधिक प्रकाश डाल सकें। प्रस्तुत पुस्तक में संविधान के प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद से ही उद्धरण मूलतः उठाकर देदिये गये हैं। ऐसा इसलिये किया गया है कि मूल की प्रामाणिकता अक्षुण्ण रहे और पाठक संविधान की भाषा और शब्दावली से अवगत हो सकें। अनेक स्थलों पर उनकी दुरूहता निश्चय ही नये पाठकों के लिये निरुत्साहजनक है, किन्तु उनसे सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक है। विधेयक, आयुक्त, आरक्षक, निगम, निकाय, पत्तन प्रन्यास, निवृत्ति वेतन, परिवहन, पारण, प्रतिवेदन, भागिता, रूपांकन, वित्त, विधि और संहिता जैसे शब्द जो आज अपरिचित हैं, वही अभ्यासगत होजाने पर कल सरल होजायेंगे, किन्तु यदि उन्हें सरल रूपान्तर में ही सदा प्रचलित करने का प्रयत्न किया जाय, तो मूलशब्द—जो

वर्षों के परिश्रम से, पारिभाषिक रूप में सारे भारत में प्रचलित करने के लिये निकाले गये हैं—सदा अपरिचित ही, अतः दुरूह बने रहेंगे। देश का जब राष्ट्र के रूप में गठन हुआ तो उसकी राष्ट्रभाषा भी उसे प्राप्त हुई, अतः राष्ट्रभाषा के प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन आवश्यक है और इसी दृष्टि से संविधान के उपबन्धों को अविकल रूप में भारत सरकार द्वारा प्रामाणिक हिन्दी संस्करण से उद्धृत किया गया है। साथ ही उनकी दुरूहता का ध्यान रखते हुए अपने शब्दों में उन्हें स्पष्ट करने की भी चेष्टा की गयी है और आवश्यकता समझने पर तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं।

देश और विदेश के अनेक विधानवेत्ताओं के प्रामाणिक ग्रन्थों, सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रकाशनों तथा संविधान-सम्बन्धी संसद की रिपोर्टों का हमने स्थल-स्थल पर उपयोग किया है। अनेक स्थलों पर सरकारी प्रकाशनों के पृष्ठ-के-पृष्ठ उद्धरण में दिये गये हैं; क्योंकि उन्हें ही साधारणतः प्रामाणिक माना जाता है। कांग्रेस के इतिहास एवं भारत सरकार के वार्षिक विवरणों तथा समय-समय पर प्रकाशित होनेवाली सरकारी पुस्तिकाओं से भी सामग्रियाँ ली गयी हैं और ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि की तैयारी में अनेक ऐतिहासिक एवं वैधानिक ग्रन्थों की सामग्रियों की खोज करनी पड़ी है। इस प्रकार संविधान-सम्बन्धी इस प्रकाशन को पूर्णतः प्रामाणिक एवं उपयोगी करने का प्रयत्न किया गया है, और हमें विश्वास है कि इस विषय की अभिरुचि

रखनेवाले इसे उपयोगी पायेंगे। जिन अधिकारी विद्वानों की रचनाओं के उद्धरण प्रस्तुत पुस्तक में हैं, उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

भारतीय शासन विधान भारतीय संविधान का एक आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन है। यह अपने में सर्वथा पूर्ण है, यह हमारा दावा नहीं है, किन्तु इस दिशा में यह एक ऐसा प्रयास है, जिसकी उपयोगिता में भी हमें सन्देह नहीं है। हमारा विश्वास है कि ऐसे अधिकाधिक प्रकाशनों की हिन्दी में बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस शासन विधान के प्रकाशक श्रीबलदेव दासजी अग्रवाल ने जैसा उत्साह और जैसी सहृदयता इसके प्रकाशन में दिखायी है, उसके प्रति आभार प्रदर्शन करते हुए हमें आशा है कि हम शीघ्र ही कुछ और उच्चकोटि का राजनीतिक साहित्य माँ भारती के चरणों में अर्पित कर सकेंगे।

९, अपर चितपुर रोड,
कलकत्ता—७
५-९-१९५१

श्री शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'

भारतीय शासन विधान

विषय-सूची

अध्याय—१

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अध्याय—२

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना

अध्याय—३

विधान का 'वैधानिक' विरोध

अध्याय—४

१६३५ का शासन विधान

अध्याय—५

भारत स्वतंत्रता के पथपर

अध्याय—१२

मूल अधिकार

अध्याय—१३

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

अध्याय—१४

संघ : कार्यपालिका

अध्याय—१५

मंत्रि-परिषद्

अध्याय—१६

संसद्

अध्याय----१७

संघ की न्यायपालिका

अध्याय----१८

राज्यों की शासन-व्यवस्था

अध्याय----१९

संघ और राज्यों का सम्बन्ध

अध्याय----२०

राजस्व-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

अध्याय----२१

सरकारी नौकरियाँ

अध्याय----२२

स्वायत्त शासन

—०*०—

भारतीय शासन विधान

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य भारत के वर्तमान संविधान का, वस्तुतः शाब्दिक अर्थों में, कोई वैधानिक पृष्ठभूमि—कोई वैधानिक इतिहास नहीं है। भारत के सांस्कृतिक विकास के अन्तर्गत प्राचीन शासन-नीति के मनु, शुक्राचार्य, बृहस्पति, कौटिल्य, घोतमुख, चारायण एवं किञ्जल्क जैसे आचार्यों ने जिन शासन-व्यवस्थाओं के, अधिकाधिक लोगों के अधिकाधिक कल्याण-साधन के आधार को अंगीकृत किया था, वह वस्तुतः लोक तंत्रात्मक ही था और इसलिये जिस विश्व-विधान पर आधारित विश्व व्यापी सरकार की कल्पना आज की जाती है, उसके प्रवर्तक हिन्दू शासन नीति के आचार्य रहे हैं और इसीलिये उन्होंने 'महते जान राज्याय' जैसे सार्वभौम राज्य की कल्पना की थी। अतएव वर्तमान संविधान की आत्मा उसी आदर्श से अनुप्राणित है और धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना भी उक्त लक्ष्य से असंगत नहीं।

किन्तु जिन अर्थों में वैधानिक विकास के इतिहास को

संविधान का आधार कहा जाता है, वैसी बात नहीं। भारत का वर्तमान संविधान इस दृष्टि से अनूठा है और प्रथम बार जन-सत्ता के आधार पर, उसी की प्रेरणा से इसकी रचना हुई है। वर्तमान संविधान के पूर्व के वैधानिक विकास का इतिहास भारत में ब्रिटिश शासन-नीति के आवश्यकता-जनित परिवर्तनों का ही इतिहास है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से लेकर १९३५ के भारतीय विधान तक भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को सुदृढ़, सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से जब-जब जैसी-जैसी आवश्यकताएँ समझीं, तब-तब वैसी ही व्यवस्थाएँ चालू कीं। ऐसी स्थिति में भारतीय शासन विधान का इतिहास इस देश में ब्रिटिश शासन नीति का ही इतिहास है, इसका सम्बन्ध वास्तविक जन-सत्ता से बहुत कम रहा है। यद्यपि जनसत्ता के संचालन की गतिविधि एवं उसकी शक्ति से ब्रिटिश-शासन नीति का इतिहास प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। कभी तो भारतीयों का सहयोग अनिवार्य होने के कारण और कभी उसे विवशतः प्राप्त किये बिना, शासन तंत्र के व्यर्थ प्रमाणित होने की आशंका से उक्त नीति में परिवर्तन करने पड़े हैं और वर्तमान संविधान यद्यपि एकमात्र भारतीय इच्छा का प्रतिफल है, फिर भी इसे सम्भव होने के कारणों में अस्तंगत ब्रिटिश साम्राज्यवाद की परिस्थितिजन्य विवशताएँ नहीं रही हैं—ऐसा कहना असंगत होगा। इस प्रकार भारतीय लोकमत का इतिहास भी, जो उसके विभिन्न आन्दोलनों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है, वर्तमान संविधान

की पृष्ठभूमि है। साथ ही, भारत की परम्परागत व्यवस्थाओं ने भी भारत-सम्बन्धी नीति को प्रभावित किया है, भले ही, जैसा कि सर तेजबहादुर सप्रू ने, तत्कालीन भारत सरकार के वर्षों कानून-सदस्य होने के अनुभवों के पश्चात् कहा था कि "भारत सम्बन्धी ब्रिटिश नीति, न तो नई दिल्ली में और न तो शिमला में, बल्कि व्हाइट हाल (लन्दन) में निर्धारित होती है।" माल के महकमे, सुरक्षामूलक कार्यवाहियां एवं सीमान्त सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण हमारी परम्परागत स्थितियों तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार करना पड़ा है, जिसका कि श्रीरत्न स्वामी ने अपनी रचना (Some Influences that made the British Administration in India) में विशद उल्लेख किया है। प्रोफेसर कावेल ने टैगोर व्याख्यान माला—Tagore Law Lectures—के सिलसिले में यह तो ठीक ही कहा था कि "विदेशी शासकों ने एक अनोखे देश की विदेशी जाति पर शासन करने के लिये जो प्रयोग किये," उन्हीं का यह इतिहास है, परन्तु उनका यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं कि इस इतिहास का "उन राष्ट्रीय संस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं जो स्वतः उत्पन्न हुईं।" इन संस्थाओं की प्रेरणाओं ने भारत में ब्रिटिश नीति को कितना प्रभावित और वस्तुतः कितना परिवर्तित किया है, इसका कतिपय उल्लेख यथा-स्थान किया गया है। १९०८, १९१९ और १९३५ के शासन विधानों के कार्यान्वित होने का इतिहास उक्त तथ्य का साक्षी है।

भारतकी श्री-समृद्धि और विदेशी

मुगलों का शासनकाल था। भारत अपनी श्री-समृद्धि की चरम सीमा पर था और पर्य्यटकों की कहानियां विदेशियों की लिप्सा भारत के प्रति जागृत कर चुकी थीं। प्रागैतिहासिक काल से ही भारत विविध वस्तुओं के निर्माण की कला प्राप्त कर चुका था और इतिहास साक्षी है कि भारत के ऊनी, रेशमी वस्त्र, धातु के बर्तन, इत्र, रंग, हीरे, जवाहरात, दरेस, जरदोजी के काम, इस्पात आदि विभिन्न पदार्थ अनेक देशों की राजधानियों में चर्चा के विषय हो रहे थे। भारतीय वस्तुएँ अनेक देशों में जातीं और भारत लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन रहा था। प्राचीन भारत की श्री-समृद्धि का वर्णन करते हुए थार्टन ने लिखा है :—

"नील नदी की उपत्यका पर पिरामिड के सिर ऊँचा करने के पहले ही, और यूरोपीय सभ्यता के पीठिका-स्वरूप यूनान और रोम के निवासी जब जङ्गलों में ही मारे-मारे फिरते थे, भारत तभी से श्री और समृद्धि का केन्द्र था। उद्योग धन्धों में लीन उसकी विशाल जनसंख्या थी, लहलहाने वाली हरीभरी फसल किसानों को निहाल कर देती थी और कठोर वस्तुओं को भी कला-कौशल से सम्पन्न शिल्पी अद्वितीय सुन्दरता और नफासत के साथ बुन देते थे। स्थापत्य कला के शिल्पियों ने वास्तु-निर्माण की दिशा में वह दक्षता प्राप्त कर ली थी कि उनके कुशल हाथों द्वारा निर्मित शिल्प हजारों वर्षों के झाड़ झंखाड़ के बाद भी, ज्यों-के-त्यों खड़े

रहे—प्राचीन भारत निश्चय ही असाधारण श्री-समृद्धि से सम्पन्न था।" प्रख्यात इतिहासकार लेकी ने (History of England in Eiteenth Century vol. H. P. 158) लिखा है - "सत्तरहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में सस्ते और सुन्दर दरेस, छींट, मलमल और तंजेब का इस विशाल परिमाण में इङ्गलैंड में आयात हुआ था कि वहां के ऊनी और रेशमी वस्त्रों की स्थिति भयावह हो उठी थी।" इस प्रकार की साम्पत्तिक अवस्था से प्रभावित होकर और अनेक प्रकार की भारत-सम्बन्धी कहानियों से आकर्षित होकर विदेशियों ने भारत में आनेका क्रम बन गया और यह दिलचस्पी न केवल ब्रिटेन, फ्रान्स अथवा अन्यान्य देशों के नागरिकों की हुई, बल्कि उक्त देशों की सरकारों ने भी दिलचस्पी दिखलायी। जो देश भारत में विशेषतः दिलचस्पी लेने लगे, उनमें ब्रिटेन, फ्रान्स और हालैंड प्रमुख रहे और कुछ काल तक तो उनमें भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने अथवा उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के लिये प्रतिस्पर्द्धा चली और फलतः अनेक युद्ध भी उनमें हुए और अन्ततः फ्रान्स और पुर्तगाल के अन्तर्गत कतिपय अंचलों के अतिरिक्त ब्रिटेन को ही भारत पर अधिकार और अन्ततः प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता मिली।

मुगल-सम्राट जहांगीर के शासनकाल में पहला अंगरेज राजदूत विलियम हाकिन्स हिन्दुस्तान में आया और जहांगीर के दरबार में कई वर्षों तक रहा। सर टामस रो दूसरा अंगरेज दूत था जो

इङ्गलैंड के तत्कालीन राजा जेम्स के आदेश से भारत आया। सर टामस अत्यन्त चतुर व्यक्ति था। सम्राट तथा उसके दरबारियों को उसने बहुत-सी कीमती चीजें नजर कीं। जहांगीर को व्यक्तिगत रूप में प्रसन्न करने में उसने सफलता पायी और उसने बम्बई प्रान्त के सूरत नगर में अंगरेजों को अपनी व्यापारी कोठी बनाने की आज्ञा दे दी। उस समय मुगल शासनकाल अपने ऐश्वर्य एवं वैभव के चरम शिखर पर था।

अंगरेजों का आगमन—

सर टामस रो जिस समय भारत आया था उस समय इङ्गलैंड में ईस्टइण्डिया कम्पनी की स्थापना हो चुकी थी। इङ्गलैंड के औद्योगिकों, वाणिज्य-व्यवसायियों ने उक्त कम्पनी की स्थापना पूर्व में वाणिज्य व्यवसाय की दृष्टि से की थी और १६०० ई० में तत्कालीन साम्राज्ञी महारानी एलिजाबेथ की स्वीकृति से पार्लमेण्ट द्वारा स्वीकृत रायल चार्टर के अधीन कम्पनी को अपने उद्देश्यों की पूर्ति का अधिकार प्राप्त हो गया। कम्पनी पर केवल यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि वह अपने लाभ का निर्धारित अंश सरकार को देती चले। उक्त चार्टर के अनुसार सर्व प्रथम १६०१ में एक जहाज़ लेकर कंपनी के कर्मचारी भारत में आये।

ईस्टइण्डिया कम्पनी—

ईस्टइण्डिया कम्पनी ने किस प्रकार अपना विकास किया और किस प्रकार उसने न केवल व्यापारिक, बल्कि राजनीतिक क्षेत्रों पर

भी अपना प्रभाव स्थापित कर अन्ततोगत्वा भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का वह कारण बनी, यह इतिहास की सामग्री है और भारत में वैधानिक प्रगति का सूत्रपात भी इसी से होता है। यहां उसका विशद उल्लेख असम्भव होगा किन्तु इतना उल्लेख आवश्यक होगा कि ईस्टइण्डिया कम्पनी को यद्यपि अपने देश का रायल चार्टर प्राप्त था, लगभग एक हजार प्रमुख व्यवसायी और औद्योगिक उसके साथ थे और किसी प्रकार की बाधा उसे अपने देश के शासकों की ओर से नहीं थी, फिर भी भारत में उसे अन्य विदेशियों से कड़ी बाधाएँ मिलीं। अन्य यूरोप-निवासी भी समान रूप से भारत की ओर आकर्षित थे और भारत के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये न केवल इच्छुक थे, बल्कि प्रयत्नशील भी थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में १४६६ ई० में ही पुर्तगाल के नाविकों का एक दल भारत की ओर चल पड़ा था और १४६८ में सुप्रसिद्ध नाविक वास्कोडिगामा स्वयं भारत की खोज में आया। पुर्तगाल की नौ-शक्ति उस समय अद्भुत थी। १५१० ई० में गोवा उनका प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बना और तब से आजतक, भारतीय स्वाधीनता के पश्चात् भी, वह राजनीतिक उलझनों और अंशतः कूटनीतिक कुचक्रों का केन्द्र बना हुआ है। अलबुकर्क पुर्तगालियों के वायसराय के रूप में ही नहीं, उनके सौभाग्य के रूप में भी भारत आया था, क्योंकि वह अत्यन्त कुशल शासक और उससे भी कुशल व्यवहारिक व्यक्ति था, भारतीयों को अपनी ओर आकर्षित करने

में उसने बड़ी सफलता पायी। किन्तु ईस्टइण्डिया कम्पनी के संचालक भी कम चतुर नहीं थे। दोनों में प्रतिद्वन्द्विता चला करती। १५८० ई० में पुर्तगाल और स्पेन के युद्ध तथा उसके पश्चात् ही उक्त देशों के राजा फिलिप के इङ्गलैंड पर विजय प्राप्त करने के विफल प्रयास के परिणामस्वरूप पुर्तगाल की सामुद्रिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो चली और ईस्टइण्डिया कम्पनी का एक प्रबल विरोधी मोर्चा टूट चला। किन्तु अभी डच और फ्रान्सीसी मोर्चे मौजूद थे। अनेक छोटे बड़े संघर्षों के पश्चात् अन्ततोगत्वा ईस्टइण्डिया कम्पनी के हाथ में ही भारत के वाणिज्य-व्यवसाय को प्रधानता रही। धीरे-धीरे कम्पनी की व्यापारिक कोठियाँ मछली पट्टम, पटना, और आगरा में खड़ी हो गयीं और १६९० ई० में उसने तत्कालीन नवाब से मामूली मूल्य पर काली घाट, गोविन्दपुर और सूतावती नामक तीन गांव खरीद लिये और इन्हीं तीनों को मिलाकर कलकत्ता नगर की स्थापना की और फोर्टविलियम के निर्माण का कार्यारम्भ कर दिया गया।

कम्पनी शासन के क्षेत्र में—

इस प्रकार ईस्टइण्डिया कम्पनी ने वाणिज्य-व्यवसाय के लिये अपनी स्थिति सुदृढ़ की और तत्कालीन मुगल शासक ने उसे न केवल वाणिज्य के लिये, बल्कि अपने क्षेत्रों की सुव्यवस्था का भी अधिकार प्रदान कर दिया। कम्पनी के लिये यह सुविधाएँ मूल्यवान थीं और इसी अधिकार का विकास आगे चलकर

बहुत व्यापक रूप में हुआ। मुगल साम्राज्य का अन्तिम प्रतापी सम्राट औरंगजेब जबतक जीवित था, तबतक कम्पनी ने केवल वाणिज्य-व्यवसाय तक ही अपनी गतिविधिको सीमित रखा, केवल जल-दस्युओं से अपने व्यापारिक जहाजों की रक्षा के लिये उसे सीमित सैन्य रखने की आवश्यकता थी। किन्तु औरंगजेब के अन्त के साथ मुगल साम्राज्य की भी कमर टूट गयी। इसके अन्त का प्रारम्भ तो उसके जीवनकाल में, और अधिकांशत: उसकी धर्मान्ध नीति के कारण ही, हो चला था। मुगल सत्ता अब छिन्न भिन्न हो चली। आन्तरिक कलह और वाह्य आक्रमण—दोनों ही ने उसके मूल पर कुठाराघात किया और स्वतः अत्यन्त पवित्र आचरण रखनेवाले औरंगजेब की शासन-सम्बन्धी संशय पूर्ण नीति के परिणामस्वरूप स्थिति सदा के लिये प्रतिकूल हो चली थी। औरंगजेब स्वयं भी, अपने जीवनकाल में ही ऐसे कारुणिक अन्त की कल्पना करके कांप उठा था। मरने के पहले अपने पुत्र मुअज्जम के नाम उसने जो पत्र लिखा था, उसमें उसने लिखा था—"मानव जाति के प्रति मैंने प्रतिक्षण अन्याय किये हैं और उन्हीं अनन्त पापों का दुर्वह भार लिये मैं इस लोक से परलोक जा रहा हूं। भगवान मुझे मेरे इन पापों का दण्ड अवश्य ही देगा, इसे मैं भलीभांति जानता हूं।"

देश की आन्तरिक स्थिति—

और भगवान ने औरंगजेब के पापों का दण्ड न केवल उसे,

बल्कि सारे देश को दिया। जैसा कि—फ्रान्स के राजा लुई ने कहा था कि मेरे बाद ही प्रलय होगा—"After me the deluge" उसी प्रकार औरंगजेब के बाद भारत में राजनीतिक दुरवस्था बढ़ने लगी। प्रजा असन्तुष्ट थी, उत्तराधिकारियों में किसी प्रकार की क्षमता नहीं। राजपूत और सिख मुगलकालीन धर्मान्ध नीति के कारण असन्तुष्ट एवं क्षुब्ध थे और उधर मराठे थे जो शिवाजी के नेतृत्व में राज सत्ता प्राप्त करने के लिये तत्पर थे। फिर भी समस्त विरोधियों का कोई संयुक्त मोर्चा नहीं था। परिणाम इसका यह हुआ कि मुगल शासनोत्तर अव्यवस्थाओं का उपयोग पारस्परिक वैमनस्य के कारण भारतीय नहीं कर सके और विदेशियों का प्रतिरोध करने में उन्हें सफलता नहीं मिली। इसलिये जैसी परिस्थिति थी, उसमें विदेशियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता ही एकमात्र बाधा थी और जब ईस्टइण्डिया कम्पनी के विरोधी निर्बल हुए तो कम्पनी को अपना कार्य-विस्तार करने में स्वतः सुविधाएँ मिल गयीं।

फलतः कम्पनी का कार्यक्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तृत होता गया और शनैः शनैः अधिकाधिक अंचल उसके प्रभावक्षेत्र में आते गये। वाणिज्य-व्यवसाय के अतिरिक्त कितने ही अंचल उसके शासनाधीन होते गये। अतः जहां कम्पनी के कार्यों से उसके संचालक सन्तुष्ट थे, वहीं अनेक लोगों ने कम्पनी के कार्यों को और भी व्यवस्थित करने एवं उसे ब्रिटिश हितों के अनुकूल नियंत्रित करने की इच्छा से उसे नियमबद्ध करने का उपाय निकालना चाहा।

कम्पनी की आय का श्रोत भी अब केवल वाणिज्य-व्यवसाय नहीं था। १७६५ में उसने बंगाल की दीवानी अपने हाथ में ली थी और तत्कालीन व्यवस्थाओं के कारण उसे येनकेन प्रकारेण कर-वसूली से प्रचुर लाभ होने लगा था। इसी प्रकार के लाभ की प्रेरणा से उसने दूसरे प्रान्तों पर भी लिप्सा की दृष्टि दौड़ायी और दूसरे प्रान्तों में भी इसका प्रयोग करना चाहा। उधर कम्पनी के कर्मचारी स्वयं भी अर्थ लोलुप हो चले थे और उनकी दृष्टि अपने अधीनस्थ नागरिकों की सुख-सुविधा की ओर नहीं थी, बल्कि वे केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही अपनी नीति निर्धारित करते थे।

प्रथम वैधानिक प्रयोग—

ब्रिटेन के स्वार्थ निहित वर्ग ने इस दुरवस्था को न केवल कम्पनी के, बलिक भारत-सम्बन्धी ब्रिटिश हितों के प्रतिकूल पाया। अतः उसने सुव्यवस्था के नाम पर जहां कम्पनी के अधिकारों को नियंत्रित किया, वहीं उसे यह भी यश प्राप्त करने का सुगम मार्ग मिल गया कि नागरिकों की सुख-सुविधा के नाम पर उन्हें और भी आकर्षित किया जासकता है और तत्कालीन दुरवस्थाओं में सुव्यवस्था सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु थी। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर ने इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर ११ नवम्बर १७७३ ई० को एक पत्र लिखा जिसमें उसने स्पष्ट लिखा कि "कम्पनी के शासनाधीन अंचलों की शासन स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित है।" ब्रिटिश लोकमत भी कम्पनी के

कार्यों से क्षुब्ध था, अतः पार्लमेण्ट ने परिस्थिति की वास्तविकताओं को हृदयंगम करते हुए १७७३ में एक नयी व्यवस्था की जो आगे चलकर रेगुलेटिंग ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुई। भारत में ब्रिटिश शासन नीति के इतिहास का रेगुलेटिंग ऐक्ट प्रथम अध्याय है।

रेगुलेटिंग ऐक्ट—

रेगुलेटिंग ऐक्ट (Regulating Act) द्वारा ईस्टइन्डिया कम्पनी को प्रथम बार राजनीतिक अधिकारों की स्वीकृति प्राप्त हुई और इसी के द्वारा सर्व प्रथम उसे कानूनी कार्यों का भी अधिकार प्रदान किया गया। शासन व्यवस्था के लिये चार सदस्यों की एक कौंसिल के साथ एक गवर्नर जेनरल की नियुक्ति की गयी। एक सर्वोच्च न्यायालय—सुप्रीम कोर्ट की भी स्थापना की गयी। सुप्रीम कोर्ट के लिये इस बात की हिदायत नहीं थी कि वह किस कानून के अनुसार न्याय-शासन संचालित करे। उक्त व्यवस्था द्वारा एक प्रकार से द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना हुई क्योंकि व्यापारिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में कम्पनी के संचालकों को ही सारी सत्ता सौंपी गयी, जब कि अन्य शासन सम्बन्धी व्यवस्थाओं का अधिकार सपरिषद् बंगाल के गवर्नर-जेनरल को दिया गया। बम्बई और मद्रास प्रान्तों का शासनाधिकार भी बंगाल के गवर्नर-जेनरल के ही आधीन कर दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स उक्त ऐक्ट के अनुसार प्रथम गवर्नर जेनरल

बनाया गया। द्वैध शासन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह था कि जिन दो विभागों में व्यवस्थाएँ की गयीं, उनके अधिकारों को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया गया, अतः समय-समय पर एक विभाग के अधिकारियों द्वारा दूसरे विभाग के अधिकारों में हस्तक्षेप होने लगा। परिणाम यह हुआ कि कार्य संचालन सम्बन्धी असुविधाएँ होने लगीं। यह भी निश्चित नहीं किया गया था कि अधीनस्थ प्रजा का शासन किस कानून द्वारा हो, और उधर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को भारत के हिन्दू-मुसलिम नागरिकों के धर्मों की जानकारी नहीं थी, अतः वे अपने देश के कानूनों के अनुसार ही न्याय-व्यवस्था चलाते थे। प्रजा में इससे असन्तोष हुआ और उधर द्वैध शासन प्रणाली के भी कुपरिणाम स्पष्ट हो चले थे, अतः पार्लमेण्ट ने पुनः नयी व्यवस्थाओं की ओर ध्यान दिया और तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री जेम्स फाक्स ने पार्लमेण्ट में एक नया विधेयक उपस्थित किया। साधारण (कामन्स) सभा ने तो इस पर स्वीकृति देदी, किन्तु सरदार सभा (लार्ड्स) में इसका घोर विरोध हुआ, अतः इस प्रश्न पर फाक्स मंत्रिमन्डल की स्थिति जटिल हो उठी और अन्त में उसे पद-त्याग करना पड़ा। इङ्गलैंड के बादशाह स्वयं भी फाक्स के 'इण्डिया बिल' के विरोधी थे। इसके पहले १७८१ ई० में न्याय व्यवस्था में कतिपय सुधार कर दिये गये थे। इस ऐक्ट के अनुसार हिन्दू-मुसलिम प्रजा के मामलों में उन्हीं के वैयक्तिक कानूनों के अनुसार न्याय होने लगा था और भूमि-कर-

सम्बन्धी विषयों के लिये एक रेवेन्यू बोर्ड की भी स्थापना हो चली थी, किन्तु स्थिति को देखते हुए और भी व्यापक व्यवस्थाओं की आवश्यकता थी, अतः फाक्स ने उक्त इण्डिया बिल उपस्थित किया था, जिसे उसके पदत्याग के पश्चात् पिट ने उपस्थित किया और स्वीकृत होने पर वह कानून Pitt's India Act के नाम से विख्यात हुआ।

'पिटका इण्डिया ऐक्ट'—

इस ऐक्ट द्वारा रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोषों का परिहार करने का प्रयत्न किया गया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता थी एक बोर्ड आव कन्ट्रोल—नियंत्रण समिति की स्थापना। वारेन हेस्टिंग्स ने गवर्नर जेनरल की हैसियत से काशी नरेश चेत सिंह तथा अवध की बेगमों के साथ जैसा दुर्व्यवहार किया था और अन्यान्य राज्यों के साथ उसने जैसी स्वेच्छाचारिता का नग्न प्रदर्शन किया था, उसकी न केवल इस देश में, बल्कि इङ्गलैंड में भी भारी भर्त्सना की गयी और ब्रिटिश लोकमत अत्यन्त क्षुब्ध हुआ। ब्रिटिश जनता को इस बात की आशंका होने लगी थी कि यदि भविष्य में भी ऐसी ही स्वेच्छाचारिताओं की पुनरावृत्ति की गयी तो भारत में ब्रिटिश सत्ता के दृढ़ीकरण के बजाय उसके मूल पर ही कुठाराघात हो सकता है। इसलिये उक्त ऐक्ट द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि बोर्ड आव कन्ट्रोल की आज्ञा के बिना किसी भी देशी राज्य पर न तो आक्रमण किया जा सकता है और न सन्धि।

गवर्नर जेनरल बोर्ड की अनुमति के अभाव में सभी के साथ निरपेक्ष नीति का अवलम्बन करे। बोर्ड आव कन्ट्रोल के लिये ६ सदस्यों की नियुक्ति हुई और उन्हें भारत की राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन एवं उनपर सम्राट को उचित परामर्श देने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। बोर्ड और कम्पनी के संचालकों में मतभेद होने की स्थिति में सम्राट को अन्तिम निर्णयात्मक अधिकार दिया गया और उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वे गवर्नर जेनरल को उचित समझने पर वापस भी बुला सकें। गवर्नर जेनरल की परिषद् के सदस्यों की संख्या घटाकर ३ कर दी गयी और सपरिषद् गवर्नर जेनरल को आन्तरिक मामलों में और भी विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये। उक्त ऐक्ट द्वारा कम्पनी पार्लमेण्ट के अधीनस्थ कर दी गयी और पार्लमेण्ट ने भारत के राजनीतिक मामलों में सीधे हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त कर लिया, साथ ही इससे भारत में और भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार एवं विजय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वस्तुतः अब ब्रिटिश लोकमत विजित अंचलों की स्थिति को और भी सुदृढ़ एवं सुसंगठित करने के पक्ष में हुआ। बोर्ड आव कन्ट्रोल का गठन कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण था। उसके पास कम्पनी के संचालक भारत सम्बन्धी गुप्त खरीते भेजा करते। इसी बोर्ड के अध्यक्ष के कार्य एवं पद के अनुरूप आगे चलकर 'भारत मंत्री' के पद एवं कार्य का विकास हुआ।

न्याय व्यवस्था-सम्बन्धी परिवर्तनों पर भी यहां दृष्टिपात

कर लेना चाहिये। एक विदेशी जाति जब दूसरी विभिन्न विदेशी जातियों पर शासनाधिकार प्राप्त करती है, तब न्याय-सम्बन्धी व्यवस्थाओं को लेकर उसकी कठिनाइयां अत्यन्त जटिल होती हैं। उक्त ऐक्ट तक स्थिति यह हुई कि बंगाल, बम्बई और मद्रास की तीन प्रेसिडेन्सियों के तीन कानूनों का प्रचलन उक्त प्रान्तों की व्यवस्थापिका-सीमा के अन्तर्गत किये गये। तीनों प्रेसिडेन्सी नगरों के लिये अंगरेजी कानूनी व्यवस्था चालू की गयी और किसी भी अन्य अंचल के लिये आवश्यकतानुसार अङ्गरेजी कानूनों के प्रचलन करने के अधिकार पर स्वीकृति प्रदान की गयी। हिन्दुओं और मुसलमानों के लिये उन्हीं के निजी कानूनों की स्वीकृति से उनमें भी सन्तोष हुआ और अदालतों की सहायता के लिये संस्कृतज्ञ पंडितों एवं मौलवियों की नियुक्ति भी हुई और कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर, विषय विशेष अथवा प्रसंग विशेष पर बाहरी तद्विषयक विशेषज्ञों की सहायता लेने की भी व्यवस्था की गयी।

१८१३ का चार्टर ऐक्ट—

ईस्टइण्डिया कम्पनी के लिये १८१३ ईस्वी में एक नये अधिकार पत्र को स्वीकृति पार्लामेण्ट ने दी। इसके अनुसार चाय को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं के व्यापार का अधिकार इङ्गलैंड के समस्त व्यापारियों को दे दिया गया। कम्पनी के हाथ से भारत का शासन सम्बन्धी अधिकार इङ्गलैंड के राजा

को हस्तांन्तरित कर दिया गया। राजा की अनुमति के बिना वह किसी अंचल विशेष पर भी शासन नहीं कर सकती थी। केवल चीन के साथ कम्पनी को व्यापार करने का एकाधिपत्य दिया गया। कम्पनी पर यह भी प्रतिबन्ध लगाया गया कि वह प्रति वर्ष एक लाख रुपया शिक्षा के लिये व्यय करे। इस चार्टर द्वारा गवर्नर जेनरल को अपनी परिषद् के निर्णयों को भी अमान्य ठहराने का भी अधिकार दिया गया। इसी के अन्तर्गत कर लगाने तथा उसकी वसूली से इन्कार करने पर दण्ड विधान की भी व्यवस्था की गयी।

१८३३ का अधिकार-पत्र—

जैसा कि लार्ड मेकाले ने कहा है —"१८३३ का अधिकार-पत्र, १७८४ से १८९८ तक जितने भी नियम बनाये गये उनमें १८३३ का अधिकार-पत्र सबसे महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार आर्थिक क्षेत्र में भी कम्पनी की सत्ता अत्यन्त सीमित कर दी गयी और समस्त भारत के लिये एक केन्द्रीय व्यवस्थापिका के गठन का निश्चय किया गया। गवर्नरों के हाथ के व्यवस्थापक अधिकार सपरिषद् गवर्नर जेनरल को हस्तान्तरित कर दिये गये और उसीको सभी व्यक्तियों, न्यायालयों, स्थानों एवं क्षेत्रों के लिये विधान व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया। चीन के साथ कम्पनी के व्यापार का एकाधिपत्य समाप्त कर दिया गया। कम्पनी के अधीनस्थ समस्त भूमि का एकमात्र स्वत्वाधिकारी

सम्राट तथा उसके उत्तराधिकारी घोषित किये गये। गवर्नर जेनरल के सहायतार्थ एक न्याय सदस्य की नियुक्ति का नियम बनाया गया और भारतीय विधान-कानूनों में संशोधन करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति हुई और उक्त लार्ड मेकाले, न्याय सदस्य एवं उक्त कमीशन के अध्यक्ष नियुक्त हुए। लार्ड मेकाले ने भारतीय कानूनी स्थिति को पूर्ण रूपेण व्यवस्थित करने की चेष्टा की। इसी अधिकार-पत्र के अन्तर्गत पादरियों की भी नियुक्तियां हुईं। उक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अधिकार-पत्र द्वारा इस बात की भी घोषणा की गयी कि नौकरियों के लिये रूप, रंग, धर्म, जाति किसी प्रकार का भी भेद नहीं माना जायगा। इस घोषणा के परिणामस्वरूप भारतीयों के विक्षोभ एवं असन्तोष के निराकरण की कल्पना की गयी थी।

१८५३ का चार्टर ऐक्ट—

उक्त अधिकार-पत्र द्वारा गवर्नर जेनरल की परिषद् तथा उसके न्याय सदस्य के अधिकारों की सीमा और भी विस्तृत करदी गयी। सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति संचालकों के हाथ से छीन ली गयी। गवर्नर जेनरल की कार्यकारिणी परिषद् में ६ और सदस्य बढ़ाये गये। इण्डियन सिविल सर्विस का द्वार प्रतियोगिता के आधार पर सभी के लिये मुक्त कर दिया गया। वैधानिक विकास की दृष्टि से उक्त अधिकार-पत्र का महत्व इसलिये भी बहुत अधिक है कि व्यवस्थापिका की कार्य प्रणाली में भी उससे मौलिक परिवर्तन

हुए। इसके अनुसार परिषद् द्वारा स्वीकृति व्यवस्थाओं पर गवर्नर जेनरल की अन्तिम स्वीकृति अनिवार्य कर दी गयी और गुप्त रूप से चलनेवाली कार्यवाहियों का स्वरूप सार्वजनिक हुआ और प्रस्तावित व्यवस्थाओं का अन्तिम निर्णय वैयक्तिक मत पर निर्भर न रहकर उसे प्रवर समिति (Select Committee) के हवाले करने का नियम बनाया गया।

विकास और अधिकार—

साल भर बाद ही १८५४ में एक और अधिकार-पत्र स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार गवर्नर जेनरल को, कम्पनी के संचालकों तथा नियंत्रण समिति की सहमति से घोषणा द्वारा कम्पनी के किसी भी अंचल अथवा क्षेत्रीय प्रबन्ध को स्वतः अपने हाथ में लेने का अधिकार दे दिया गया।

इस प्रकार ईस्टइण्डिया कम्पनी ने आर्थिक क्षेत्र में जिन ब्रिटिश स्वार्थों का बीजारोपण किया था, उनका फल ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिलारोपण के रूप में प्रकट हुआ। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने आर्थिक क्षेत्रों की अपनी विजय को राजनीतिक मोर्चे के लिये उपयोग किया और भारतीयों के सामने यह बात अस्पष्ट नहीं रह गयी कि ब्रिटेन उत्तरोत्तर सम्पूर्ण भारत को अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत लाने के लिये प्रयत्नशील है। प्रथम गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स की नीति से भारतीय क्षुब्ध थे ही लार्ड डलहौजी (१८४८—५६ ई०) जब गवर्नर जेनरल बनकर

आया, तब उसने ऐसी नीति अपनायी कि भारतीयों की रही-सही आशा भी जाती रही। असन्तोष की आग चारों ओर सुलग रही थी। गरम राख में बारूद ढँकी हुई थी, केवल चिनगारी लगाने की देर थी। हिन्दू और मुसलमान सभी ब्रिटिश शासन पद्धति से विक्षुब्ध थे। इसके कारणों का विस्तृत उल्लेख यहां असम्भव है, किन्तु सिपाही विद्रोह के नाम से १८५७ ई० में भारतीय स्वतंत्रता का जो प्रथम संग्राम हुआ, उसकी राजनीतिक प्रतिक्रियाएँ व्यापक हुईं। अंगरेज शासकों ने भारतस्थित अपने स्वार्थों की सुरक्षा के लिये अफगानिस्तान तथा ब्रह्मा के सीमान्तों तक जाकर युद्ध किया था और देश के अन्तर्गत मराठों, सुलतानों, राजों, महाराजों सभी को एक-एक करके पदानत किया था। वारेन हेस्टिंग्स यदि मदान्ध कूटनीतिज्ञ था तो डलहौजी अपनी इस मूढ़ नीति का उपासक कि वह भारत में अपने को उस उत्तरदायित्व को लेकर उतरा हुआ मानने लगा था, जिसे उपनिवेशों के प्रसंग में श्वेतांगों का उत्तरदायित्व (White man's Burden) कहा जाता है। स्वेच्छा अथवा अनिच्छा द्वारा वह अंगरेजी शासन का बोझ भारत पर लादना ही चाहता था, क्योंकि उसके कल्याणकारी होने में उसका आन्तरिक विश्वास था।

भारतीय स्वाधीनता का प्रथम प्रयास—

यह मनोवृत्ति थी जिसकी प्रतिक्रिया भारतीयों पर अत्यन्त दूषित हुई और भारत में विदेशियों के आगमन के पश्चात्

सम्भवत: पहली बार सभी शक्तियों ने मिलकर और खुलकर ब्रिटिश सिंह के दाँत उखाड़ने का प्रयत्न किया। अंगरेज इतिहासकार इस युद्ध को 'गदर' और 'विप्लव' शब्दों से सम्बोधित करता है, किन्तु विफल होने पर भी इसके कारण ही ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को भारत में नवीन शासनसुधारों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस विद्रोह के पश्चात् १८५८ में जो नया ऐक्ट स्वीकृत किया गया, वह शासन सम्बन्धी सुविधाओं के अतिरिक्त समयानुकूल प्रगतिशील नहीं था, फिर भी इसके पश्चात् ही तत्कालीन साम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया की भारत प्रसिद्ध घोषणा हुई और १८६१ ई० में जो शासन विधान स्वीकृत किया गया, वह भारत के वैधानिक इतिहास में महत्व का स्थान रखता है। १८५८ की व्यवस्था के अन्तर्गत एक भारत परिषद् का गठन १५ सदस्यों को लेकर किया गया जिसके ७ सदस्यों के कम्पनी के संचालकों द्वारा मनोनीत तथा ८ के सम्राट द्वारा नियुक्त होने की व्यवस्था की गयी। भारत के शासन से सम्बन्धित एक राज्य सचिव की नियुक्ति की गयी और नियम बना दिया गया कि भारत परिषद् के कम-से-कम ६ सदस्य ऐसे होने चाहिएँ जिन्हें भारत में १० वर्षों का अनुभव हो। राज्य सचिव को परिषद् की सहमति से शासन करने का अधिकार दिया गया और उन्हीं के अधीनस्थ सपरिषद् गवर्नर जेनरल को भारत पर शासन करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। यह व्यवस्थाएँ इसलिये की गयीं कि उक्त ऐक्ट के अन्तर्गत कम्पनी के हाथ से भारत पर शासन

करने का सम्पूर्ण अधिकार छीन लिया जाय और अब वह एक मात्र सम्राट के अधीनस्थ कर दिया गया।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा—

१८५८ ई० की वैधानिक व्यवस्था ऐसी न थी कि उससे सभी सम्बद्ध दलों को सन्तोष होता। इसलिये ब्रिटिश सरकार ने इस बात को आवश्यक समझा कि भारत सम्बन्धी ब्रिटिश सरकार की नीति का स्पष्टीकरण कर दिया जाय। इस दृष्टि से तत्कालीन साम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया ने भारतीय जनता तथा दूसरे लोगों के सम्बन्ध में घोषणा करते हुए कहा कि, "भगवान की कृपा से देश में आन्तरिक शान्ति की स्थापना होते ही हमारी आन्तरिक कामना है कि भारत की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये पुनः प्रयत्न किया जाय, जनता की हितार्थ सार्वजनिक सुविधाएँ प्रदान की जायँ और जनता की मंगल कामना को ही शासन प्रबन्ध का आधार बनाया जाय। जनता का हित ही हमारा हित हो, उसके सन्तोष को ही हम अपनी सुरक्षा और उसकी कृतज्ञता को ही हम अपना गौरव अनुभव करें। यह भी हमारी कामना है कि हमारी प्रजा को बिना किसी जाति अथवा धर्म के भेद-भाव के सभी सरकारी नौकरियों को अपनी शिक्षा तथा योग्यता द्वारा प्राप्त करने की सुविधा हो, हमारी प्रजा के धार्मिक विचारों एवं विश्वासों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने के लिये हमारे सरकारी कर्मचारियों को कठोर आदेश है। हमें

अपने साम्राज्य विस्तार की भी इच्छा नहीं है। हमें अपनी मान-मर्यादा के अनुसार ही अन्य देशी नरेशों के भी सम्मान का ध्यान है।"

इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट १८६१—

अपने पिछले अनुभवों के आधार पर और नागरिकों में व्यापक असन्तोष देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने शासन-संचालन में भारतीयों के सहयोग को अनिवार्य समझा। शासन-सम्बन्धी जटिलताएँ भी बढ़ती चल रही थीं, अतएव १८६१ ई० में एक नया विधान इण्डिया कौंसिल ऐक्ट के नाम से घोषित किया गया। इसके अनुसार मद्रास और बम्बई के गवर्नरों को अपने क्षेत्रों में कानून बनाने एवं उन्हें कार्यान्वित करने की पूर्ण क्षमता दे दी गयी। केवल भूमि-कर, डाक तार विभाग, फौजदारी के कानून, मुद्रा एवं मुद्रा नीति, सैनिक एवं नौसेना-सम्बन्धी विषय, वैदेशिक सम्बन्ध तथा भारतीय प्रजा के आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज के सम्बन्ध में गवर्नर जेनरल की स्वीकृति के बिना गवर्नरों को नियम-कानून बनाने का अधिकार नहीं दिया गया। भारत-मन्त्री की मारफत सम्राट की सरकार को जिन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार था, उन विषयों में गवर्नर जेनरल की स्वीकृति के बिना नियम-कानून बनाने का अधिकार नहीं था। प्रान्तीय व्यवस्थापिका के कानूनी कार्यों को सुगम बनाने की दृष्टि से एक ऐडवोकेट जेनरल की नियुक्ति हुई। गवर्नर की सलाह के लिये कम

से कम चार और अधिक-से-अधिक आठ सदस्यों की एक परिषद् का भी गठन हुआ। इनमें आधे सदस्यों के गैरसरकारी होने की व्यवस्था की गयी। व्यवस्था कीदृष्टि से गवर्नर जेनरल को अन्य प्रान्तों के निर्माण एवं उनके लिये लेफ्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार भी दिया गया गवर्नर जेनरल की कार्यकारिणी परिषद् में कम-से-कम ६ और अधिक-से-अधिक बारह सदस्यों का विधान किया गया, जिनमें अधिक सदस्यों का गैर सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों में कुछ का भारतीय होना अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार नियमतः प्रथम बार भारतवासियों को शासन में भाग लेने का अधिकार प्रदान किया गया। किन्तु वे कुछ भी प्रभावशाली काम करने में असमर्थ थे क्योंकि उन्हें केवल विचारविनिमय का ही अधिकार था। उन्हें जांच-पड़ताल करने, अभियोग रखने तथा आर्थिक व्यवस्था पर कुछ भी बोलने के अधिकार से बंचित कर दिया गया था। एक दूसरा दोष यह भी था कि एकमात्र मनोनीत होने के कारण वे निर्वाचित सदस्यों की भांति लोकमत का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ थे। परिषद् का काम वस्तुतः केवल उन्हीं बातों पर स्वीकृति देने का था जिन्हें सरकार उपस्थित करती थी। गवर्नर जेनरल को कौन्सिल की बातों को सर्वथा उलट देने का भी अधिकार था। उक्त ऐक्ट द्वारा प्रथम बार किसी भी आकस्मिक संकटकाल में गवर्नर जेनरल को छः मास के लिये आर्डिनेन्स निकालने का अधिकार प्रदान किया गया।

न्याय विभाग में भी उक्त ऐक्ट द्वारा मौलिक परिवर्तन किये गये। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालयों—हाई कोर्ट की स्थापना कर सुप्रीम कोर्ट, सदर दीवानी और फौजदारी अदालतों को तोड़ देने की व्यवस्था की गयी।

प्रधान विचारपति के अतिरिक्त अधिक-से-अधिक पन्द्रह अन्य विचारपतियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। इसी के अन्तर्गत १८६५ में इलाहाबाद हाई कोर्ट की भी स्थापना की गयी। इस प्रकार १८६१ का वर्ष वैधानिक प्रगति के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा।

असन्तोष और जन-जागरण—

लार्ड मेकाले ने भारत में अंगरेजी शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए एक बार कहा था कि—"अपनी शिक्षा द्वारा हमें ऐसे भारतीयों को उत्पन्न करना है जो जन्म से भारतीय किन्तु विचारधारा में हमारे दृष्टिकोण के हों। किन्तु अंगरेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी भारतीय इस बात का अनुभव करने लगे थे कि योग्यता एवं क्षमता रखते हुए भी उन्हें शासन में भाग लेने के अधिकार से वंचित किया जाता है। इसके कारण उनमें आन्तरिक असन्तोष परिव्याप्त था। उधर जनता १८५७ के विप्लव में विफल प्रयास होने पर भी अंगरेजी शासन के साथ अपना मानसिक सामञ्जस्य स्थापित करने में असमर्थ थी। फलतः सभी वर्गों की मनोवृत्तियां अभिव्यक्ति चाह रही थीं। अनेक सार्व-

जनिक संस्थाएँ स्थापित होने लगीं। बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में कई संस्थाएँ स्थापित हुईं। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एवं आनन्द मोहन बोस ने १८७६ में कलकत्ते में ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन नामक संस्था की स्थापना की, जिसके उद्देश्य थे भारतीय लोकमत को शिक्षित करना, भारतीयों को शासन के योग्य बनाना एवं वैध उपायों द्वारा भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करना। अन्य प्रान्तों के लोग भी इसमें सम्मिलित हुए।

किन्तु सबसे महत्वपूर्ण जिस संस्था का जन्म उन दिनों हुआ वह इण्डियन नेशनल कांग्रेस राष्ट्रीय महासभा थी। इसके जन्मदाता एक अंगरेज सिविलियन मि० ह्यूम थे। एक अजीब सी बात मालूम होती है कि अंगरेजी शासन के दोषों के प्रक्षालन तथा स्वायत्त शासन के पक्ष में लोकमत की सृष्टि करने के लिये एक अंगरेज ने ही राष्ट्रीय महासभा जैसी संस्था को जन्म दिया। किन्तु राजनीतिक विचारधारा का जैसा उग्र प्रवाह था और रूस, ब्रिटेन तथा अफगानिस्तान को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति जिस प्रकार विषम हो चली थी उसे देखते हुए भारतीयों को असन्तुष्ट रखना भयावह सम्भावनाओं के लिये कारण उत्पन्न करना था। इसलिये विवेकशीलता के नाते मि० ह्यूम ने एक ऐसे राजनीतिक यन्त्र की आवश्यकता का अनुभव किया जिसके द्वारा लोकमत को व्यक्त कर सरकार को प्रभावित और भारतीय महत्वाकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया जा सके। इन्हीं प्रेरणाओं के फलस्वरूप कांग्रेस की स्थापना हुई। उस समय

किसे ज्ञात था कि यही कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत में सर्वथा ध्वस्त एवं देश को विदेशी शत्ता से मुक्त करेगी। सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य भारत का वर्तमान संविधान इसी कांग्रेस के प्रयासों का परिणाम है। तो इस प्रकार लोकमत जाग्रत करते हुए उसका प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्थाओं के कार्यों से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार को पुनः शासन-विधान में ऐसे परिवर्तनों की आवश्यकता महसूस हुई कि भारतीयों को अपेक्षाकृत अधिक शासनतंत्र के सम्पर्क में लाया जाय। इसलिये १८६१ ई० के शासनविधान के पश्चात् १८६६, १८७० और १८७४ के शासन विधानों को भी अपर्याप्त समझते हुए ब्रिटिश सरकार ने १८६२ ई० में नया इण्डिया कौंसिल ऐक्ट स्वीकार किया। यह ऐक्ट पहले की सभी व्यवस्थाओं से अधिक व्यापक था।

१८६२ का भारतीय परिषद् विधान—

१८६१ ई० की व्यवस्था के अन्तर्गत जितने मनोनीत सदस्य होते थे, उनकी संख्या में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों परिषदों में वृद्धि कर दी गयी। केन्द्रीय परिषद् में कम-से-कम १० और अधिक-से-अधिक १६ तथा मद्रास, बम्बई और बंगाल की प्रान्तीय परिषदों में अधिक-से-अधिक २० तथा युक्त प्रदेश आगरा और अवध की परिषद् के लिये अधिक-से-अधिक २० सदस्यों की व्यवस्था की गयी। सपरिषद् राज्य (भारत) सचिव की

स्वीकृति से गवर्नर जेनरल को सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। पंजाब और बर्मा की परिषदों में प्रत्येक के लिये ६ सदस्य मनोनीत करने का अधिकार भी सौंपा गया। निर्वाचन सम्बन्धी अधिकार यद्यपि इसमें स्वीकार नहीं किया गया था, किन्तु प्रकारान्तर से इसे इस प्रकार सिद्धान्तः स्वीकृति मिल गयी कि व्यापार, शिक्षा, अर्थ तथा ऐसे कतिपय विषयों के मान्य क्षेत्रों को अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था, यद्यपि उक्त प्रतिनिधियों को स्वीकार करलेने की बाध्यता गवर्नर जेनरल के लिये नहीं थी। सदस्यों को प्रश्न करने तथा विवाद में भाग लेने की स्वाधीनता अधिक मिल गयी थी, और वार्षिक आयव्यय—बजट भी परिषद् में उपस्थित करने का नियम बना दिया गया, किन्तु सदस्य केवल तद्विषयक विवाद में भाग ले सकते थे, वोट नहीं दे सकते थे। इस प्रकार मताधिकार प्राप्त न होने पर भी सदस्यों को आलोचना द्वारा अपना स्पष्ट मत प्रकट करने का अधिकार प्राप्त हो गया था। अन्य विषयों में मत-विभाजन का अधिकार था। भारतीय सदस्यों के अधिकारों की जो सीमा निर्धारित की गयी थी, उसे देखते हुए यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत का लोकमत उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। देश में स्वायत्त शासन के पक्ष में बुद्धिजीवी समुदाय हो चला था और जनता आर्थिक संकट में ग्रस्त थी, अतः सर्वसाधारण के मनोभाव भी ब्रिटिश सरकार की नीति के कटु विरोधी होरहे थे।

मार्ले-मिण्टो-सुधार—

मार्ले-मिण्टो-सुधार का महत्व वैधानिक इतिहास की दृष्टि से स्वतः जितना है, राष्ट्रीय जन-जागृति के इतिहास के रूप में भी उतना ही। अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर-राष्ट्रीय परिस्थितियां थीं, जिनसे विवश होकर उक्त सुधारों के लिये ब्रिटिश सरकार को बाध्य होना पड़ा। १८९२ ई० की व्यवस्था से तो लोग असन्तुष्ट थे ही, उधर भारतीयों के सम्मान पर आघात करनेवाली विदेशी मनोवृत्तियां नग्न रूप में प्रकट होने लगी थीं। देश में भारी अशान्ति के कारण स्पष्ट हो रहे थे। कलकत्ता, गया और बनारस में साम्प्रदायिक उपद्रव हो चले थे, १८९५ में मालाबार में मोपला-विद्रोह हुआ और आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर भयावह होती चली जाती थी। अन्त में अनेक अंचलों में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। १८९९ में लार्ड कर्जन भारत के वायसराय होकर आये और १९०० में ही गुजरात में भीषण अकाल पड़ा। उत्तरी सीमान्त पर अवस्थित खैबर की घाटी तीरा के अफरीदियों ने रोक ली तो पूर्व में ब्रह्मा, चीन और स्याम के सीमान्तों के निपटारे का सवाल उठ खड़ा हुआ। लार्ड कर्जन के लिये तिब्बत पर बढ़ते हुए रूसी प्रभाव का भी सामना करना पड़ा और १९०५ में रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय का प्रभाव समस्त एशियाई देशों पर पड़ा और सर्वत्र लोगों में नैतिक बल का संचार होता दिखायी पड़ा।

बंग-भंग—

ऐसी विकट स्थिति थी जिसमें लार्ड कर्जन ने अपनी घोर अहमन्यता में बंगाल के विभाजन की योजना उपस्थित कर दी। कर्जन हठधर्मी था और भारतीयों के प्रति उसकी वैयक्तिक धारणा भी बड़ी ही तुच्छ थी, जैसा कि कलकत्ता विश्व-विद्यालय के दीक्षान्त-समारोह पर भाषण करते हुए उसने स्पष्टतः भारतीयों की नैतिकता पर आक्रमण किया था और सभी को मर्यादाहीन एवं मिथ्या प्रलापी कह डाला था। १६ अक्टूबर १९०५ में कर्जन ने बंगाल को विभाजित कर आसाम के साथ उसे संयुक्त कर पूर्वी बंगाल का एक पृथक प्रान्त ही बना डाला। सारे बंगाल ने एक स्वर से इसका विरोध किया और उस वर्ष काशी में होनेवाली कांग्रेस के २१ वें अधिवेशन में बंग-भंग का विरोध किया गया और १९०६ में कांग्रेस ने पुनः अपनी नीतिका स्पष्टीकरण करते हुए प्रस्ताव स्वीकृति किया जिसमें कहा गया कि "इस देश के शासन में देश के लोगों का न तो कुछ हाथ है और न तो सरकार देशवासियों के आवेदनों-निवेदनों पर कुछ ध्यान ही देती है, यह देखते हुए बंग-भंग के विरुद्ध बंगाल में चलनेवाला बहिष्कार का आन्दोलन न्यायसंगत था, और है।" इस प्रकार न केवल एक प्रान्त ने, बल्कि सारे देश ने एक स्वर से कर्जनकाण्ड का विरोध किया। स्वदेशी आन्दोलन प्रान्तव्यापी नहीं, देश-व्यापी हो चला। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, बाल

गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल उस समय के तेजस्वी नेता थे और सभी लोग अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों में तथा सम्मिलित रूप से समस्त देश में जन-जागरण का शंखनाद कर रहे थे। दादाभाई अब 'औपनिवेशिक स्वराज्य' नहीं, एकमात्र 'स्वराज्य' का मंत्र फूंकने लगे और लोकमान्य तिलक का वह प्रसिद्ध नारा कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है," सारे देश में प्रतिध्वनित होने लगा। राष्ट्रीय प्रवाह उद्दाम वेग से चलने लगा, और उधर विदेशों में रहनेवाले भारतीयों ने स्वाधीनता के हेतु क्रान्तिकारी कार्यों में अपनी आहुति देने की तैयारी करली और इधर ब्रिटिश सरकार भी लोकमत पर दमन-चक्र चलाने लगी। १९०७ में राजनीतिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये नये कानूनों का निर्माण हुआ और उग्र विचार के लाला लाजपत राय जैसे नेताओं का निर्वासन कर सरकार देश में आतंक उत्पन्न करने लगी। १८ जूलाई १९०८ को लोकमान्य तिलक को छ वर्ष का कारागार का दण्ड दिया गया। समाचार पत्रों ने जन-जागरण का समर्थन करना प्रारम्भ किया तो उन्हें भी दबाने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया। श्री अरविन्द घोष तथा उनके सहकर्मियों को अलीपुर बम केस में घसीटा गया। खुदीराम बोस और कन्हाईलाल दत्त इसी युग के अमर शहीद थे।

इस प्रकार लार्ड कर्जन की नीति के भयावह परिणाम स्पष्ट होने लगे किन्तु कर्जन अपनी आंखों यह सब दृश्य देखने के लिये यहां न रह सका। भारतीय सेना के प्रधान सेनापति

लार्ड किचनर से मतभेद होने के कारण उसे १६०५ में ही अपने पद से त्यागपत्र देकर स्वदेश चला जाना पड़ा ।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति—

इस प्रकार की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में एक विशेष परिवर्तन ब्रिटिश राजनीति में भी हुआ, जिसने इतिहास की धारा को पुनः दूसरे मार्ग से प्रवाहित कर दिया। १६०५ ई० में पार्लमेण्ट के साधारण निर्वाचन में वहां का अनुदार दल पराजित हुआ और शासन-सूत्र उदार दल के हाथ में आया। और भारत में कर्जन के पश्चात् लार्ड मिण्टो वायसराय बनकर आये। लार्ड मार्ले उन दिनों भारत सचिव थे और भारतीयों की महत्वाकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने के लिये लार्ड मिण्टो की नीति का उन्होंने समर्थन किया। इन्हीं दोनों व्यक्तियों के संयुक्त प्रयत्न से भारत सम्बन्धी सुधारों की छानबीनकर अपने सुझाव उपस्थित करने के लिये एक समिति गठित की गयी और उसके पश्चात् १६०९ में जो इण्डिया कौंसिल एक्ट पार्लमेण्ट ने स्वीकार किया, वह उन्हीं के—मार्ले-मिण्टो सुधार के नाम से विख्यात हुआ। भारत में वैधानिक विकास की दिशा में उस समय निश्चय ही यह एक प्रगतिशील कदम था, यद्यपि भारत के उदार दलियों के अतिरिक्त न तो जनता को और न प्रगतिशील विचारधारा के प्रतिनिधियों को ही यह पसन्द आया। भी फिर वैधानिक विकास की दृष्टि से यह ऐतिहासिक महत्व की व्यवस्था थी,

क्योंकि इसके अन्तर्गत अनेक राजनीतिक विषयों के सम्बन्ध में न केवल ब्रिटिश सरकार का मन्तव्य स्पष्ट होता था, बल्कि महत्व के वैधानिक प्रश्नों पर उसके सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण उससे हुआ। उक्त सुधारों में आधारित कतिपय सिद्धान्तों का आगे की राजनीति एवं शासन व्यवस्था पर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आज भारत जिस साम्प्रदायिक आधार पर दो भागों में विभाजित है, उसका सूत्रपात भी उन्हीं सुधारों में किया गया, उत्तरदायित्व इसका लखनऊ पैक्ट के नाते भारतीय नेताओं पर जितना नहीं, उतना मार्ले-मिण्टो सुधार की साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली पर है।

नये सुधारों की रूपरेखा—

मार्ले-मिण्टो सुधारों के अन्तर्गत केन्द्रीय एवं व्यवस्थापिका परिषदों की सीमा कुछ विस्तृत हुई। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों को बजट पर भी अपना मन्तव्य व्यक्त करने की सुविधा मिल गयी और उन्हें इस बात का भी अधिकार मिल गया कि जनता के कल्याण के सम्बन्ध में वे अपना मत व्यक्त कर सकें। परिषदों की सदस्य संख्या में भी वृद्धि हुई। इम्पीरियल कौंसिल—केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद के कुल ६० सदस्यों में २७ निर्वाचित सदस्यों की संख्या निर्धारित कर दी गयी। ३३ मनोनीत सदस्यों में भी ५ गैरसरकारी सदस्यों के मनोनीत करने की व्यवस्था की गयी। प्रान्तीय परिषदों का भी गठन इस प्रकार

का किया गया कि गैर सरकारी सदस्य ही बहुसंख्यक हों, यद्यपि सरकार द्वारा मनोनीत गर सरकारी सदस्य प्रायः सरकारी सदस्यों की भांति ही थे। गवर्नर जेनरल की शासन-परिषद् तथा बंगाल, मद्रास और बम्बई के गवर्नरों की शासन परिषद् में भी एक-एक भारतीय सदस्य रखने की व्यवस्था की गयी। रायपुर (बंगाल) के लार्ड सिन्हा सर्व प्रथम भारतीय थे जिन्हें गवर्नर जेनरल की शासन परिषद् का सदस्य नियुक्त किया गया। व्यवस्थापिका परिषदों में पूरक प्रश्नों तथा गैर सरकारी प्रस्तावों को उपस्थित करने का भी अधिकार सदस्यों को दिया गया, यद्यपि स्वीकृति होने पर भी उन्हें मान्यता प्रदान करने के लिये सरकार के लिये कोई वाध्यता नहीं थी। प्रतिनिधियों के चुनाव के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली निश्चित की गयी, केवल मुसलमानों, जमीन्दारों तथा सिखों को प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा अपने प्रतिनिधियों के चुनाव की सुविधा प्रदान की गयी। निर्वाचन-क्षेत्रों तथा प्रणालियों की ऐसी व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रीयता के आधार पर प्रतिनिधि चुनाव लड़ने की स्थिति में ही न आ सकें और साम्प्रदायिक मतभेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाय। इसके लिये गैर सरकारी सदस्य तथा नगरपालिका और जिला बोर्ड के सदस्यों के लिये एक व्यवस्था की गयी और उधर जमीन्दार वर्ग तथा मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचनक्षेत्र और प्रणाली। कारपोरेशन, विश्वविद्यालय, वाणिज्य संस्थान, पोर्ट ट्रस्ट और व्यापारिक वर्ग के लिये विशेष निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण

किया गया। पंजाब में सिखों के लिये एक सर्वथा पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाया गया।

देश की प्रतिक्रिया—

इस प्रकार उदार दल द्वारा घोषित उक्त सुधारों को इतने प्रतिबन्धों के साथ कार्यान्वित करने की व्यवस्था की गयी कि बाह्य-रूप में अपेक्षाकृत प्रगतिशील एवं आकर्षक होते हुए भी वास्तविक रूप में उससे भारतीयों का कुछ भी हित साधन न हो सके। व्यवस्थापिका परिषदों के अधिकार घोषणा के अनुसार तो जनहिताय उपयोगी प्रतीत होते थे किन्तु गवर्नर जेनरल की शासन परिषद् का उसके कार्यों पर इतना नियंत्रण था कि व्यवस्थापिका परिषदें गैर सरकारी बहुमत बना सकने की स्थिति में भी अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने में सर्वथा असमर्थ थीं। देश भर में कतिपय इने-गिने पदलोलुपों के लिये वैयक्तिक मान-मर्यादा वृद्धि का साधन इससे भले ही प्राप्त हो गया हो, किन्तु सर्व साधारण के लिये उक्त सुधारों की कोई खास उपयोगिता नहीं थी। यही कारण था कि उक्त सुधारों का देश ने स्वागत नहीं किया और वैयक्तिक स्वीकृति के अतिरिक्त किसी भी दल को उससे आन्तरिक सन्तोष नहीं हुआ। भारत के जिस उदार दल को सन्तुष्ट करने का उसमें प्रयत्न किया गया था, उसके भी केवल उन्हीं व्यक्तियों ने उसे प्रतिवाद के साथ केवल इस भावना से अस्वीकार नहीं किया कि जो कुछ प्राप्त हो, उसे लेते हुए और के

लिये प्रयत्नशील रहो। वस्तुस्थिति वास्तव में यह थी। फिर भी ब्रिटिश सरकार अपने शासन सुधारों की प्रशंसा का ढोल सदा ही पीटती रही, यहां तक कि इसके १०० वर्ष बाद १९०९ ई० में ३ दिसम्बर को ब्रिटिश सम्राट की ओर से भारत की वैधानिक प्रगति के सम्बन्ध में निकलनेवाले एक विवरण में कहा गया था कि—

"१७७३ और १७८४ ई० में जो विधान व्यवस्थाएँ की गयीं थीं, उनका लक्ष्य ईस्टइण्डिया कम्पनी के अधीनस्थ सुव्यवस्थित शासनप्रणाली की स्थापना करना था। १८३३ ई० की व्यवस्थाओं द्वारा भारतीयों के लिये सरकारी नौकरियों का द्वार मुक्त कर दिया गया। १८५८ ई० की व्यवस्थाओं ने कम्पनी के शासनाधिकार को सम्राट को हस्तान्तरित कर दिया। उसी के द्वारा जनता को अत्यधिक अधिकार दे दिये गये, जिनका उपयोग वह आज भी करती है। १८६१ ई० की शासन-व्यवस्था द्वारा प्रतिनिधिमूलक शासनप्रणाली का श्रीगणेश हुआ और १९०९ की शासन व्यवस्था ने भारतीयों के शासनाधिकार की सीमा बहुत विस्तृत कर दी।"

३०० वर्षों में एक सदस्य—

किन्तु भारत के वैधानिक विकास-सम्बन्धी जिन तथ्यों का ऊपर उल्लेख है, वे कुछ और ही कहानी कहते हैं। ईस्टइण्डिया कम्पनी का पहला जत्था १६०१ में भारत में उतरा और १९०९ के शासन सुधारों के अन्तर्गत एक—और पहला भारतीय गवर्नर

जेनरल की शासन परिषद् का सदस्य हो सका! ३०० वर्षों के बाद एक भारतीय को शासन परिषद् में बैठने – निर्णय करने के लिये नहीं, केवल विचार विनियम करने का अधिकार देना निश्चय ही ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय शासनपद्धति के विकास का एक अनोखा इतिहास है। और मज़ा यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के किसी पेशेवर प्रचारक का नहीं, स्वयं सम्राट का यह दावा है !!

दूसरा अध्याय

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना के अनुसार १६१६ में भारत में नया शासन-विधान लागू किया गया। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने किन अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की प्रेरणा से उक्त योजना के निर्माण एवं उसे कार्यान्वित करनेकी आवश्यकता का अनुभव किया, इसका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। और इस सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय घटना प्रथम महायुद्ध द्वारा उत्पन्न स्थिति थी। १६१४ में जिस प्रथम विश्वव्यापी युद्ध की घोषणा हुई, उस में भारत ने ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयास में इच्छा-पूर्वक पूर्णरूपेण भाग लिया। स्वयं गांधीजी ने न केवल अपनी वैयक्तिक सेवाएँ अर्पित कीं, बल्कि उन्होंने सहायता देने की भावना से स्वयंसेवक दल का भी गठन किया। गाँधीजी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कभी समर्थक नहीं रहे, किन्तु केवल मानवोचित भावनाओं की प्रेरणा से संकटग्रस्त ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग देने के लिये उद्यत हो गये थे। इधर मित्र-शक्तियों द्वारा—जिनमें ब्रिटेन प्रमुख था—इस युद्धसम्बन्धी उद्देश्यों की घोषणा भी हुई थी। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति उड्रो विल्सन ने स्व-भाग्य निर्णय के

सिद्धान्त की दुहाई दी थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने अपनी भावी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए घोषणा की थी कि—"एकता, स्वतंत्रता तथा स्वभाग्य निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए, उसे ही कार्यान्वित करने की दृष्टि से" उक्त युद्ध किया जा रहा है। युद्धों का अन्त सदा के लिये कर दिया जाय और संसार में गणतंत्र को सुरक्षित किया जाय! यह उक्त युद्ध का महान् लक्ष्य घोषित किया गया था। एशिया और अफ्रिका की रंगीन जातियों ने श्वेत सभ्यता का कूटनीतिक प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अबतक नहीं देखा था, इसलिये उनमें अपने भावी भाग्य के प्रति उक्त घोषणाओं में आकर्षक आश्वासन पाने पर मित्र शक्तियों की विजय के लिये सर्वस्व बलिदान कर देने की भावना उद्वेलित हो उठी।

मित्र राष्ट्रों और ब्रिटेन की यह तो घोषणा थी, किन्तु कार्य में इसकी कुछ भी अभिव्यक्ति न पाकर भारतीयों का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक था। भारतीय लोकमत जाग्रत हो चला था और लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हुए उसे लेकर ही रहने का मंत्र फूंक दिया था। डा० एनी बीसेन्ट ने होम रूल का नारा उठाया था और उधर माडरेट भी थे, जो शासन व्यवस्था में भारतीयों को यथासाध्य अल्पतम अधिकार देने की ब्रिटिश नीति के कटु आलोचक हो चले थे। इन सब भावनाओं का सम्मिलित परिणाम यह था कि ब्रिटिश सरकार की भारत-सम्बन्धी शासन नीति के प्रति सभी दल अस-

न्तुष्ट थे और ब्रिटिश सरकार ने इस बात को अनुभव किया कि भारतीयों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को लेकर आश्वासन देना अनिवार्य है। इस दृष्टि से ब्रिटिश सरकार की ओर से २० अगस्त १९१७ को पार्लमेण्ट में एक घोषणा की गयी। उक्त घोषणा में तत्कालीन भारत सचिव माण्टेग्यू ने भारतीयों को क्रमिक स्वायत्त शासन का अधिकार देने की नीति को स्वीकार किया। इस प्रकार "ब्रिटिश साम्राज्य के एक अविभाज्य अंग ब्रिटिश भारत में क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासनप्रणाली की स्थापना" की नीति की घोषणा प्रथम बार ब्रिटिश सरकार की ओर से की गयी और इसलिये उक्त घोषणा का शासन विधान के विकास की दृष्टि से यथेष्ठ महत्व है। उक्त घोषणा में कहा गया था कि :—

"ब्रिटिश सरकार की यह नीति है, जिससे भारत सरकार भी पूर्णतः सहमत है कि भारत के प्रत्येक शासन विभाग में भारतीयों का क्रमिक सहयोग प्राप्त किया जाय और भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासनप्रणाली का उत्तरोत्तर विकास किया जाय, जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए ब्रिटिश भारत में स्वायत्त शासनप्रणाली की स्थापना की जा सके। उसका यह निश्चय है कि इस दिशा में यथा सम्भव शीघ्रता के साथ ठोस कार्य किया जाय। इस नीति को क्रम-क्रम से कार्यान्वित किया जायगा। भारतीयों के हित एवं उन्नति का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार पर ही है अतः वही निर्णय

करेंगे कि कब और कितनी प्रगति इस दिशा में की जाय। जिन लोगों पर यह जिम्मेदारियां डाली जायेंगी, उन्हें उनका पालन करने के लिये सहयोग प्रदान किया जायगा और साथ ही यह भी देखा जायगा कि उन्होंने अपने उत्तरदायित्वों का किस रूप में पालन किया और उन पर कहांतक विश्वास किया जा सकता है।"

उक्त घोषणा की कतिपय पंक्तियां जो ऊपर दी गयी हैं, यही स्पष्ट करती हैं कि भारतीयों की योग्यता तथा उत्तरदायित्व के प्रति उनकी आस्था के सम्बन्ध में ब्रिटिश शासक सदैव संशयशील रहे और उन्हें न तो उनकी योग्यता में विश्वास रहा और न उनके प्रति उनकी विश्वासपूर्ण भावना ही रही। और इस भावना के साथ जो शासन विधान लागू हुआ, वह भारतीयों के लिये कितना सन्तोषप्रद हो सकता था, और वास्तव में कैसा हुआ, यह सर्व विदित है।

उक्त घोषणा के पश्चात् भारतमंत्री भारत आये और तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारत भ्रमण करने तथा जनता के तथा कथित सम्पर्क में आने और उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने १६१८ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। तत्पश्चात् लार्ड साउथबरो की अध्यक्षता में मताधिकार समिति, लन्दन स्थित लार्ड क्रू की समिति, भारत सरकार के सुधार खरीते, लार्ड सेल्बोर्न की अध्यक्षता में संयुक्त प्रवर समिति का कार्यक्रम चला और अन्त में

१६१६ में शासन विधान पार्लमेण्ट ने स्वीकार किया और इसी वर्ष के अन्त में शाही घोषणा के साथ सम्राट ने उसपर अपनी स्वीकृति प्रदान की। इसके लगभग सालभर पश्चात् मतदाता सूची का प्रकाशन हुआ और उक्त विधान के अनुसार ६ फरवरी १६२१ को ड्यूक आव कनाट ने भारत पधार कर इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल का उद्घाटन किया। ब्रिटिश सरकार इस बात का अनुभव कर रही थी कि प्रस्तुत शासन विधान भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिये अपर्याप्त था, इसलिये उसने पुनः आश्वासन देना आवश्यक समझा और ड्यूक महोदय ने उद्घाटन करते हुए सम्राट की ओर से सद्भावना प्रकट करते हुए अपनी ओर से भी अपील की। उस घोषणा में उन्होंने कहा :—

"मैं जीवन के ऐसे समय पर पहुंच चुका हूं कि मेरी आन्तरिक अभिलाषा है कि मैं घाव पर मरहम-पट्टी कर दूँ और बिछुड़े हुओं को मिला दूँ। मुझे भय है कि अपने इस प्रिय देश भारत में मेरी यह अन्तिम यात्रा हो सकती है, अतः इस नये विधान को कार्यान्वित करते हुए मैं भावोद्वेलित हो रहा हूं और आप से व्यक्तिगत हार्दिक अनुरोध कर रहा हूं, और यह शब्द आलोचना के विषय नहीं, मेरे सच्चे हृदयोद्गार हैं कि, गलतफहमियां दोनों ओर की भूलों के कारण सम्भव हैं। अतएव भारत के एक पुराने मित्र के नाते मैं भारतीयों तथा अँगरेजों—दोनों से अनुरोध करता हूं कि आपलोग 'बीती ताहि बिसारि दें', पिछली गलतियों और गलतफहमियों पर ध्यान न देते हुए उन आशाओं

को सम्मिलित सहयोग से चरितार्थ करें, जिनका उदय आज से हो रहा है।"

ड्यूक आव कनाट किन अतीतकालीन भूलों और गलतफहमियों पर ध्यान न देने का अनुरोध कर रहे हैं? २० अगस्त १९१७ की भावी विधान-विषयक घोषणा तथा ९ फरवरी १९२१ की उक्त अपील के भीतर की अवधि का भारतीय इतिहास रक्त-रंजित है। १९१९ में होनेवाली शाही घोषणा के पश्चात् ही १९१९ के दिसम्बर में काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ। अमृतसर कांग्रेस ने उक्त योजना को "अपर्याप्त, असन्तोषजनक एवं निराशाजनक" कहकर ठुकरा दिया था और यहां तक कि लार्ड चेम्सफोर्ड की वापसी का भी प्रस्ताव स्वीकार किया था। अगस्त १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु हुई और इसके प्रायः महीने भर बाद सितम्बर में कलकत्ते में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें गांधीजी की असहयोग नीति पर स्वीकृति मिली। इसके बाद नागपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें गाँधीजी द्वारा प्रस्तावित असहयोग नीति का जोरदार समर्थन किया गया। स्थिति का सिंहावलोकन करने के पश्चात् भारत सरकार द्वारा प्रकाशित वार्षिक विवरण की कतिपय पंक्तियां यों थीं :—

"गरम विचारधारा के कतिपय अग्रणी प्रतिनिधियों के प्रतिवाद के होते हुए भी, सितम्बर के विशेष अधिवेशन में परिलक्षित भावना के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ कतिपय

प्रमुख व्यक्तियों के कांग्रेस से पृथक होने की स्थिति में भी, गाँधीजी को न केवल अपनी असहयोग नीति को स्वीकार कराने में सफलता मिली, बल्कि काँग्रेस के घोषित लक्ष्य में भी ऐसा परिवर्तन कराने में वे सफल हुए जिसके अनुसार ब्रिटिश-सम्बन्ध बनाये रखने की उक्त संस्था की अबतक की घोषित नीति भी सर्वथा परिवर्तित होजाती थी। साथ ही वैधानिक सुधारों के लिये वैधानिक आन्दोलन की नीति में भी परिवर्तन किया गया। (भारत १९२०, पृष्ठ ६७)।

काँग्रेस के लक्ष्य के सम्बन्ध में जो परिवर्तन किया गया वह यों था—"काँग्रेस का लक्ष्य सभी वैध एवं शान्तिपूर्ण उपायों से भारतीयों द्वारा प्राप्त स्वराज्य है।"

नये वैधानिक सुधार अपर्याप्त, असन्तोषजनक एवं निराशाजनक तो थेही, अतः राष्ट्रीय महासभा उन्हें स्वीकार करने में असमर्थ थी, किन्तु इस बीच में कतिपय घटनाएँ इस प्रकार की हो चलीं थीं कि ब्रिटिश सरकार की सद्भावना में देश का विश्वास कम हो चला था। इन घटनाओं के कारण भी नये सुधारों को कार्यान्वित करने के अनुकूल वातावरण नहीं रह गया था। ११ नवम्बर १९१८ को प्रथम महायुद्ध का अन्त हो गया। किन्तु भारत सरकार दमनचक्र चालू रखना चाहती थी। इसलिये सर सिडनी रौलट की अध्यक्षता में नौकरशाही के निरंकुश कार्यों को कानूनी स्वरूप देने की दृष्टि से एक समिति का गठन किया गया और समिति की सिफारिशों के अनुसार जो कानून

बनाया गया वह रौलट ऐक्ट के नाम से प्रख्यात हुआ। रौलट ऐक्ट की धाराएँ सर्वथा निरंकुश थीं और उनके द्वारा स्वेच्छा-चारिता के नृशंस कार्यों को कानूनी कवच पहना कर सर्वथा अभेद्य करने का प्रयत्न किया गया था। धाराएँ इतनी व्यापक थीं कि किसी भी नागरिक की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं थी और किसीको भी, कहीं भी और किसी भी दशा में, बिना किसी अपराध के प्रमाणित हुए ही, केवल सन्देह पर, अपमानित जीवन बिताने के लिये वाध्य किया जा सकता था। इसकी धाराओं के सम्बन्ध में स्वयं भारत सरकार के ही वार्षिक विवरण की निम्न पंक्तियां इस विषय को स्पष्ट करेंगी :—

"अराजकतापूर्ण अपराधों का फैसला करने के लिये तीन हाई कोर्ट के जजों को लेकर गठित एक सुदृढ़ न्यायालय की स्थापना जो उक्त अपराधों पर तत्काल विचार कर सके और जिसके फैसले के विरुद्ध कहीं कोई सुनवायी न हो सके। यह प्रणाली तभी काम में लायी जा सकेगी, जब गवर्नर जेनरल को इस बात का सन्तोष हो जाय कि भारत के अंचल विशेष में क्रान्तिकारी ढंग के अपराध प्रचलित हैं। गवर्नर जेनरल को यदि यह विश्वास हो गया कि अंचल विशेष में राज्य के विरुद्ध ऐसे अपराध बढ़ सकते हैं तो उसे और भी अधिकार स्वयं प्राप्त कर लेने का अधिकार होगा। जिस अंचल में ऐसे अपराधों के होने की आशंका हो, वहां की सरकारों को तत्सम्बन्धी सन्दिग्ध व्यक्तियों से मुचलका लेने, स्थान विशेष में नजरबन्द करने

अथवा उनकी गतिविधि को नियंत्रित करने का अधिकार होगा।"
(भारत : १९१९ पृष्ठ २५)

गांधीजी उक्त धाराओं की व्यापकता देखकर चौंक उठे और उन्होंने अविलम्ब विरोध किया। फरवरी १९१९ में रौलट बिल कौंसिल में उपस्थित किया गया और गाँधीजी ने तत्काल सत्याग्रह करने की घोषणा की। पहली मार्च को उन्होंने एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने उनलोगों का आह्वान किया जो उक्त ऐक्ट के विरोधी हों। जलियांवाला बाग की प्रसिद्ध घटना इसी ऐक्ट के विरोध के सम्बन्ध में घटित हुई।

१९१९ का शासन विधान

जिस शासन विधान की पृष्ठभूमि में इतनी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं, उसकी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत द्वैध शासन-प्रणाली की स्थापना की गयी। इसकी कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं :—

केन्द्रीय शासन—केन्द्रीय शासन व्यवस्था के लिये गवनर जेनरल की परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ८ करदी गयी। इनमें ३ सदस्य भारतीय, ३ कम-से-कम १० वर्ष तक सरकारी उच्च पदस्थ तथा १ भारत अथवा इङ्गलैंड के हाई कोर्ट का बैरिस्टर हो, ऐसी व्यवस्था की गयी। गवर्नर जेनरल का विशेषाधिकार सुरक्षित रखा गया। परिषद् के कार्यों को निम्न विभागों में विभक्त कर दिया गया और उनके लिये एक-एक सदस्य मनोनीत

किया गया : (१) राजनीति (२) रक्षा (३) राजस्व (४) वाणिज्य (५) न्याय (६) उद्योग एवं श्रम (७) यातायात और (८) शिक्षा एवं स्वास्थ्य। इसमें प्रथम विभाग गवर्नर जेनरल के ही अधीनस्थ रखा गया।

इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल का कार्य दो चेम्बरों में विभाजित किया गया (१) राज्य परिषद् (२) व्यवस्थापिका परिषद्। प्रथम के ६० और दूसरी के ४५ सदस्य नियत किये गये। मताधिकार द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या मनोनीत सदस्यों से अधिक रखी गयी। मताधिकार का क्षेत्र भी अपेक्षाकृत व्यापक कर दिया गया। सदस्यों के अधिकारों की वृद्धि की गयी। सरकार की आलोचना करने, प्रश्न पूछने तथा जानकारी प्राप्त करने का अधिकार उन्हें दिया गया, किन्तु सार्वजनिक हित के नाम पर सरकारी सदस्य प्रश्न विशेष का उत्तर देने से इन्कार भी कर सकते थे। बहुमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को भी ठुकराने और अस्वीकृत प्रस्ताव को भी कानूनी रूप देकर प्रचलित करने का अधिकार केन्द्र में गवर्नर जेनरल और प्रान्त में गवर्नर को दिया गया। केन्द्रीय और प्रान्तीय विषय पृथक पृथक कर दिये गये।

प्रान्तीय—प्रान्तों में द्वैध शासनप्रणाली का प्रारम्भ किया गया। केन्द्रीय विषय तो प्रान्तीय से पृथक कर ही दिये गये, साथ ही प्रान्तीय विषयों को भी दो भागों में कर दिया गया। कुछ हस्तान्तरित विषय थे और कुछ संरक्षित। स्वायत्त शासन,

शिक्षा, स्वास्थ्य, हस्तान्तरित विषयों के अन्तर्गत थे, जिनका उत्तरदायित्व भारतीय मंत्रियों को दिया गया और वे इनके लिये प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। शान्ति, व्यवस्था, राजस्व, न्याय विभाग संरक्षित विषय थे और इनका उत्तरदायित्व गवर्नर की परिषद् के सदस्यों को दिया गया जो इनके लिये प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति नहीं, गवर्नर के प्रति जिम्मेदार थे। बजट पर मत प्रकाश करने, कटौती का प्रस्ताव करने और मत देने का अधिकार सदस्यों को था, किन्तु उनके निर्णय की कोई बाध्यता नहीं थी।

लन्दनस्थित भारतसचिव की परिषद् के सदस्यों की संख्या ८ से १२ करदी गयी और भविष्य में उनके वेतन का उत्तरदायित्व इङ्गलैंड के कोष पर डाल दिया गया। लन्दन में एक भारतीय हाई कमिश्नर की नियुक्ति की भी व्यवस्था, भारतीय कोष की जिम्मेदारी पर की गयी। सिविल सर्विसों का नियंत्रण भारत सचिव के ही हाथ में रखा गया।

अन्त में इस बात की भी व्यवस्था की गयी कि दस वर्ष बाद एक कमिशन की नियुक्ति की जाय जो शासन विधान के कार्यान्वित होने की स्थिति का अध्ययन करे और इस बात का भी सुझाव दे कि क्या भावी शासनसुधार आवश्यक हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कतिपय नरम दल के नेताओं के अतिरिक्त सभी ने उक्त शासन विधान को निकम्मा समझकर ठुकराया। द्वैध शासनप्रणाली भी अकार्यकर प्रमाणित हुई और विधान कार्यान्वित होने पर सर्वथा विफल हुआ।

भारत-सचिव—भारत-सचिव के पद एवं अधिकारों का उत्तरोत्तर किस प्रकार विकास होता गया, इस स्थल पर यहां विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि उक्त पद पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भारत-शासन विधान सम्बन्धी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति रही है। ईस्टइण्डिया कम्पनी के हाथ से शासन सत्ता जब सम्राट की सरकार ने लेली और भारतीय मामले जब अधिक विस्तृत एवं उलनझनपूर्ण हुए तब ब्रिटिश सरकार के लिये यह आवश्यक हो गया कि एक नया विभाग ब्रिटिश मंत्रिमंडल में खोला जाय। १८५८ ई० में प्रथम बार भारत सचिव की नियुक्ति हुई। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के ही एक सदस्य को यह कार्यभार सौंपा गया और उसे भारत के सम्बन्ध में अत्यन्त व्यापक, बल्कि अत्यन्त निरंकुश अधिकार दिये गये। लोक-मत के अंकुश के अतिरिक्त उसकी गतिविधि को नियंत्रित करनेवाली कानूनी बाधाएँ न थीं। इसके बाद जितने भी शासनसुधार हुए, सभी में इस पद को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी शासन परिषद् के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी। किन्तु इस वृद्धि का कोई प्रभावशाली परिणाम न था, उसे स्वेच्छापूर्वक कार्य करने की पूर्ण स्वाधीनता थी।

१९१९ के शासन विधान के अन्तर्गत भी भारत सचिव के पद की मर्यादा अक्षुण्ण रही, केवल प्रान्तीय हस्तान्तरित विषयों में उसे हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रहा, कहना चाहिये, कि यह हस्तक्षेप का अधिकार प्रान्तीय गवर्नरों को हस्तान्तरित

कर दिया गया। इस विधान के अन्तर्गत भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में ५ वर्षों के लिये एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गयी, अतः दो प्रतिनिधियों को भारतीय कोष से वेतन न देकर, भारत सचिव के लिये ब्रिटिश कोष से वेतन देने की व्यवस्था की गयी। विधान के अन्तर्गत यद्यपि ऊपरी दिखावे के लिये कतिपय अधिकारों को हस्तान्तरित किया गया और रूपरेखा ऐसी रखी गयी कि कहने के लिये भारतीयों को बहुत-सा स्वायत्त शासनसम्बन्धी अधिकार मिला, किन्तु वस्तुतः भारत सचिव ही सारे मौलिक प्रश्नों को स्वेच्छापूर्वक हल करता था और उसके कार्य में हस्तक्षेप करने का अधिकार भारत को नहीं था।

गवर्नर जेनरल और वायसराय—भारतीय शासन विधान सम्बन्धी जो विषय सर्वाधिक महत्व का रहा है, वह है भारत सचिव की स्थिति के बाद, गवर्नर जेनरल एवं वायसराय के पद, मर्यादा एवं अधिकार का। ब्रिटिश भारत के शासन के सम्बन्ध में नियुक्त गवर्नर जेनरल, ब्रिटिश भारत से पृथक भारतीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में सम्राट के स्थान पर, उसके प्रतिनिधि के रूप में, वायसराय था। अतः एक ही व्यक्ति गवर्नर जेनरल एवं वायसराय के रूप में—दोनों स्थितियों, कर्तव्यों, अधिकारों एवं मर्यादाओं का पालन करता था। वायसराय की हैसियत से वह शाही स्वागत-सम्मान, राजकीय दरबार, क्षमा दान तथा भारतीय कानूनों से अछूता था और देशी रियासतों के मामले में सर्वोपरि

था। और ब्रिटिश भारत का तो वह सर्वसत्ता सम्पन्न सर्वोच्च शासक एवं अधिकारी था ही। शासन व्यवस्था तथा अर्थ सम्बन्धी उसके सर्वोच्च अधिकार थे, जिन्हें उत्तरदायित्वों की संज्ञा दी गयी। शान्ति और सुव्यस्था के उत्तरदायित्व का पालन करने के लिये वह कोई भी कार्य करने की क्षमता रखता था और अपनी परिषद् के मतों का उल्लंघन करने की उसे पूर्ण स्वाधीनता थी। व्यवस्थापिका परिषदों को बुलाने, भंग करने, स्थगित करने निर्वाचन करने और अन्त में उसके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को ठुकराने अथवा ठुकराये जाने पर भी स्वीकार करने की क्षमता उसे दी गयी थी। धर्म, सेना और भारतीय ऋण के सम्बन्ध में उसकी स्वीकृति के बिना प्रस्ताव उपस्थित नहीं किये जासकते थे और आवश्यकता होने पर उसे छ मास के लिये अपने ही बनाये हुए कानून को लागू करने का अधिकार था और वस्तुतः ऐसे कानूनों—आर्डिनेन्सों की अवधि उसकी इच्छा से स्वयं बढ़ायी या घटायी जासकती थी। इसी प्रकार आर्थिक मामलों में वह सर्वसत्ता सम्पन्न व्यक्ति था। उसकी स्वीकृति से ही भारतीय आय का कोई भी अंश खर्च किया जासकता था। सैनिक मामलों के लिये प्रधान सेनापति के पद के रहते हुए भी वायसराय का पद उससे ऊपर था।

तीसरा अध्याय

विधान का 'वैधानिक' विरोध

भारत के राजनीतिक इतिहास का जो नया परिच्छेद १९३५ के भारतीय शासन विधान से प्रारम्भ होता है उसके पूर्व की घटनाओं पर उसका बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इस प्रकार १९२१ में गाँधीजी द्वारा चलाये हुए आन्दोलन को प्रतिक्रियाओं एवं तत्सम्बन्धी घटनाओं को लेकर १९२२ और ९२७ के भीतर के दिन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उक्त वर्षों की घटनाएँ बाह्य रूप में उतनी आकर्षक नहीं, किन्तु उन्होंने एक नये अध्याय तथा नयी मनोभावना की सृष्टि की और उनका परिणाम राजनीतिक एवं वैधानिक क्षेत्र में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

स्वराज्य दल—

मार्च १९२२ में गाँधीजी गिरफ्तार हुए और ५ फरवरी १९२४ को कारावास से मुक्त। इस बीच में न केवल उदार दलियों वरन् कतिपय कांग्रेसजनों में भी सहयोग-प्रति सहयोग के आधार पर (Responsive-Co-operation) व्यवस्थापिका परिषदों में प्रवेश करने की मनोवृत्ति आयी। उदारदली जहां विधान को कार्यान्वित करना चाहते थे, वहां दूसरे उसे ध्वस्त करने के लिये कार्यान्वित करना चाहते थे। देशबन्धु चितरञ्जन दास तथा पंडित मोतीलाल नेहरू विधान के "वैधानिक" विरोधी थे

और इसी उद्देश्य से उन्होंने तद्विषयक तदनुकूल राजनीतिक विचार-धारा के काँग्रेसजनों को लेकर एक नये दल स्वराज्य पार्टी का गठन किया। जून १६२२ में लखनऊ तथा वर्ष के अन्तिम दिनों में होनेवाली गया कांग्रेस में इस विषय पर काफी वाद-विवाद हुआ और यद्यपि गाँधीजी कारागृह में थे, फिर भी उनके कार्यक्रम के प्रति आस्था अविचल रही और अन्त में 'अपरिवर्तनवादियों' की ही विजय रही।

गया-कांग्रेस के निर्णयों से असन्तुष्ट व्यक्तियों में प्रमुख थे देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू तथा हकीम अजमल खाँ। १ जनवरी १६२३ को उन्होंने स्वराज्य पार्टी की घोषणा कर दी और अगस्त के अन्त म जब मौलाना मुहम्मदअली कारागार से निकले तो २५ सितम्बर को दिल्ली में काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें मौलाना ने घोषणा की कि यरवदा जेल से गाँधी जी द्वारा उन्हें सन्देश प्राप्त हुआ है जिसके द्वारा गाँधी जी ने वहिष्कार नीति का परित्याग तथा व्यवस्थापिका-प्रवेश का समर्थन किया है। परिणाम यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी को काँग्रेस का सम्पूर्ण समर्थन प्राप्त हो गया।

स्वराज्य पार्टी को अपने उद्देश्यों में मध्यप्रान्त तथा बंगाल प्रान्त में सफलता मिली और विधान वैधानिक दृष्टिकोण से विफल रहा, किन्तु दूसरे प्रान्तों में स्थिति भिन्न रही और व्यवस्थापिका परिषदों में विधान को ध्वस्त करने में सफलता नहीं मिली। फिर भी स्वराज्य पार्टी ने अपनी सीमाओं के अन्त-

गत महत्वपूर्ण कार्य किया और विधान के निकम्मेपन पर पूरा प्रकाश डाला। भद्र अवज्ञा आन्दोलन और वहिष्कार की नीति का परित्याग कर दिया गया था अतः राजनीतिक चेतना को अक्षुण्ण रखने में स्वराज्य पार्टी का योगदान निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण रहा, यद्यपि कांग्रेस के चोटी के कतिपय नेताओं को स्वराज्य पार्टी के उद्देश्यों की सफलता में आन्तरिक विश्वास कभी नहीं हुआ। भावी वैधानिक विकास के लिये स्वराज्य पार्टी के वैधानिक विरोध ने प्रगति के मार्ग को काफी प्रशस्त किया।

गोलमेज परिषद् का प्रस्ताव—

जैसा कि कहा गया है, बहुमत प्राप्त होने पर भी कोकनद कांग्रेस (१९२३ के वार्षिक अधिवेशन) के निश्चयानुसार स्वराज्य पार्टी पद नहीं ग्रहण कर सकती थी, अतः मध्य प्रान्त तथा बंगाल में शासन तंत्र विफल हो चला और गवर्नर को अपने हाथ में आकस्मिक संकट कालीन अधिकार लेने पड़े। प्रान्तों में उक्त पार्टी की यह साधारण विजय नहीं थी। केन्द्र में पार्टी के चोटी के नेता थे। आगे चलकर जिन गोलमेज परिषदों का आयोजन ब्रिटिश सरकार को करना पड़ा, उसके सुझाव का श्रेय भी इसी पार्टी को था। फरवरी १९२४ ई० में केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद में श्री रंगाचारी ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसका आशय था कि परिषद गवर्नर जेनरल से सिफारिश करे कि वह भारतीय शासन विधान को इस रूप में

संशोधित करने का प्रयत्न करे कि प्रान्तों को स्वायत्त शासन तथा साम्राज्य के अन्तर्गत भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का पद प्राप्त हो। उक्त प्रस्ताव पर स्वराज्य पार्टी के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू ने यह संशोधन उपस्थित किया, और राष्ट्रीय दल के सहयोग से, इसे स्वीकृत कराने में भी सफलता प्राप्त की कि एक गोलमेज परिषद् बुलायी जाय और देश में पूर्ण स्वायत्तशासन प्रणाली की स्थापना की जाय। उन्हीं दिनों, ५ फरवरी १९२४ को गांधीजी की रिहाई हुई और उन्होंने पुनः व्यवस्थापिका वहिष्कार के लिये वक्तव्य देदिया, किन्तु स्वराज्य दलियों के अनुरोध पर उन्होंने इस बात को आगे नहीं बढ़ाया।

राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता—

आलोच्य अवधि में राष्ट्रीयता की जो लहर सारे देश में छायी उसकी धारा का प्रमुख प्रवाह भारत में विदेशी शासन सत्ता के सर्वथा प्रतिकूल था। वैधानिक विरोधों के अतिरिक्त जनता के विक्षोभ ने परिस्थिति को भयावनी सम्भावनाओं से सन्निहित कर दिया था और यद्यपि कतिपय शोचनीय घटनाएँ भी घटीं, जूलाई १९२४ में दिल्ली तथा नागपुर में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए, लाहौर, लखनऊ, मुरादाबाद, भागलपुर की स्थिति भयावह हो चली थी, और सितम्बर तथा अक्टूबर के महीनों में पुनः लखनऊ, शाहजहांपुर, कोकनाड़ा और इलाहाबाद में भी उपद्रव हुए। कोहाट की स्थिति सर्वाधिक भयावह हो चली थी और वहां की हिन्दू जनता को स्थानान्तरित कर दिया गया।

उक्त साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारणों का विश्लेषण निर्विवाद रूप से स्पष्ट करता है कि इस देश में जब-जब राष्ट्रीयता की लहर आयी, ब्रिटिश साम्राज्वादियों ने साम्प्रदायिक अशान्ति फैलाकर जनता की विचारधारा को पथ-विमुख करने का प्रयत्न किया। हिन्दू-मुसलिम अनैक्य का प्रधान कारण भारत स्थित विदेशी सत्ता थी। देश के कर्णधार इस तथ्य को हृदयंगम कर चुके थे किन्तु वे इस स्थिति में नहीं थे कि सारे कारणों का निराकरण करते हुए वे सद्भावना पूर्ण वातावरणकी सृष्टि कर सकें। परिणाम यह हुआ कि जितने भी साम्प्रदायिक एकतासम्मेलन हुए वे सफल नहीं हो सके। गाँधीजी ने इसी सिलसिलेमें १ सितम्बर १९२४ को २१ दिन के उपवास की घोषणा की। गाँधीजी ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्राणों की बाजी लगा दी, किन्तु फिर भी ब्रिटिश सरकार के हिमायतियों तथा भारतस्थित नौकरशाही ने इसका भी आरोप उन्ही पर लगाया। १९२४-२५ के भारत सम्बन्धी विवरण में सरकार ने आलोचना करते हुए प्रकाशित कराया कि गाँधीजी के आन्दोलन की दो प्रतिक्रियाएँ हुईं, एक यह कि राजसत्ता के विरुद्ध लोगों ने विद्रोह किया, जिससे जनता की मनोवृत्ति उच्छृंखल हो चली और दूसरी यह कि धर्म को सर्वाधिक महत्व देकर उन्होंने मुसलमानों को धर्मान्ध बना डाला। परिणाम यह हुआ कि "गाँधीजी ने अपने अभागे देश को शान्ति नहीं, तलवार प्रदान की।" (देखिये भारत १९२४-२५, पृष्ठ २९९)।

सुधार की सर्वसम्मत मांग—

उक्त अवधि के भीतर की राजनीतिक हलचलों के भीतर हमारे देश की जो विचारधारा रही, उसमें यह बात सर्वाधिक स्पष्ट है कि सभी दल भावी वैधानिक विकास के लिये प्रयत्नशील थे, भले ही उनकी रूपरेखाओं के सम्बन्ध में उनमें पारस्परिक मतभेद रहा हो। स्वराज्य पार्टी के कार्यों का उल्लेख किया जा चुका है। स्वराज्यदल ने एक अखिलदल सम्मेलन करने का निश्चय किया और सभी दलों के सम्मिलित सहयोग तथा सहमति से भावी विधान की रूपरेखा निश्चित करने का विचार व्यक्त किया। उधर उदार दल, स्वतंत्र तथा श्रीमती एनी बीसेन्ट के अनुयायियों ने सम्मिलित होकर बम्बई में २१ नवम्बर १९२४ को एक सभा बुलायी और १९२५ की जनवरी-फरवरी में दो उपसमितियों का गठन किया और उनमें से एक को हिन्दू मुसलिम समस्या तथा दूसरी को वैधानिक विकास की रूपरेखा पर अपना सुझाव देने का उत्तरदायित्व सौंपा। पहली उपसमिति शीघ्र ही विघटित हो गयी किन्तु दूसरी ने "कामनवेल्थ आव इण्डिया ऐक्ट" तैयार कर वैधानिक रूपरेखा उपस्थित की। १९२४ के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन बेलगांव में, मुसलिम लीग का बम्बई में और लिबरल फेडरेशन का लखनऊ में हुआ।

१९२५ में मुडीमैन कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और इसके साथ ही यह घोषणा की गयी कि लार्ड रीडिंग शीघ्र ही

इंग्लैंड जाकर तत्कालीन नये भारत सचिव लार्ड बर्कनहेड से परामर्श करेंगे। इन्हीं लार्ड बर्कनहेड ने स्वराज्य दल की अड़ंगे की नीति से विक्षुब्ध होकर चुनौती दे डाली थी कि यदि भारतीयों को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त शासन सुधारों पर सन्तोष नहीं है तो वे स्वयं कोई सर्वदल समर्थित योजना प्रस्तुत करें। भारत सचिव जानते थे कि पारस्परिक मतभेद के कारण भारतीय एकता सूत्र में बंध नहीं सकते और ऐसा हो भी तो अँगरेज उसे होने न देंगे। फिर भी डा० बीसेन्ट के प्रयत्न से "कामनवेल्थ आव इण्डिया ऐक्ट" सभी दलों ने स्वीकार किया, और उसे कतिपय भारतीय प्रतिनिधि लेकर इङ्गलैंड गये भी, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे भी ठुकरा ही दिया। किन्तु इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि भारत-सम्बन्धी ब्रिटिश सरकार की सदाशयता में अनेक आशावादियों की आस्था में भी धक्का लगा। अन्यथा स्थिति यह हो चली थी कि देशबन्धु दास तक ने फरीदपुर में एक वक्तृता देते हुए भारत के ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहने का समर्थन कर डाला था। उन्होंने यहांतक कह डाला था कि "मेरा ख्याल है कि भारत का भला ही होगा और इसी में विश्व का भी भला होगा कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहकर अपनी स्वाधीनता तथा मानवता की सेवा के लिये प्रयत्नशील रहे।" श्री दास के उक्त वक्तव्य की उग्र राष्ट्रवादियों द्वारा कटुमत आलोचनाएँ हुईं, किन्तु कुछ ही सप्ताह बाद उनका देहान्त हो गया।

गोलमेज परिषद की मांग—

लार्ड रीडिंग के साथ परामर्श करने के पश्चात् लार्ड बर्कन हेड ने अत्यन्त निराशाजनक वक्तव्य दिया। उन्होंने किसी भी वैधानिक विकास के लिये भारत सरकार के मत तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका के परामर्श की आवश्यकता बतायी। मुडीमैन कमिटी के अल्पसंख्यकों के गोलमेज परिषद् के अविलम्ब आयोजन की माँग को भी अस्वीकार कर दिया गया और जूलाई, १९२६ में कर्नल वेजउडबेन ने भी एक उत्तेजक वक्तव्य देते हुए कहा कि, "हमलोग (ब्रिटिश) ऐसे लोगों की सहायता ही कैसे कर सकते हैं जो आपसी मतभेदों के कारण कोई सर्व सम्मत प्रस्ताव ही नहीं उपस्थित कर सकते।"

केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद द्वारा स्वीकृत रंगाचारी प्रस्ताव का उल्लेख किया किया जाचुका है। अगस्त, १९२५ ई० में व्यवस्थापिका के शिमला अधिवेशन में मुडीमैन कमिटी की रिपोर्ट को स्वीकृत करने का प्रस्ताव जब स्वयं सर अलेक्जेण्डर मुडीमैन ने उपस्थित किया उस समय भी पंडित मोतीलाल नेहरू ने यह संशोधन उपस्थित किया कि सम्राट की सरकार से अनुरोध किया जाय कि वह अविलम्ब गोलमेज परिषद् का आयोजन करे और वैधानिक ढांचे में ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय कि भारत में स्वायत्त शासन प्रणाली द्वारा उत्तरदायी शासन की व्यवस्था हो। वह संशोधन भी विशाल बहुमत से स्वीकृत हुआ था।

इतना सब होते हुए भी भारत सचिव सन्तुष्ट न हुए। देश की राजनीतिक स्थिति भयावह होती जाती थी। सभी वर्गों में असन्तोष चरम सीमा पर पहुंच रहा था। इस बीच में १९२६ के अप्रैल में लार्ड रीडिंग के जाने पर लार्ड इरविन वायसराय और गवर्नर जेनरल होकर भारत आये। देश नया शासन विधान चाहता था और ब्रिटिश सरकार देश की मनोवृत्ति भलीभांति जानती थी। कोरे दमन चक्र द्वारा देश को आतंकित कर दबाया नहीं जासकता था और न तो साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण ही ब्रिटिश सरकार की स्थिति सुदृढ़ होने के लक्षण दिखायी पड़ते थे। अतः १९१९ के शासन विधान में १० वर्ष पश्चात जिस शाही कमिशन को भेजने की व्यवस्था की गयी थी, उसे २ वर्ष पूर्व ही १९२७ ई० में ही नियुक्त करने की घोषणा कर दी गयी। इस बार कमिशन में एक भी भारतीय नहीं रखा गया।

साइमन कमिशन—

८ नवम्बर, १९२७ ई० को सर जान साइमन के नेतृत्व में साइमन कमिशन की नियुक्ति की घोषणा की गयी और घोषणा होते ही देश के समस्त राजनीतिक दलों ने एक स्वर से इसका विरोध किया और कांग्रेस ने "प्रत्येक रूप में और प्रत्येक स्थल पर" इसके वहिष्कार का प्रस्ताव पास किया। कमिशन के प्रति देश की जब यह भाव-धारा थी तब १ फरवरी १९२८ को व्यवस्थापिका परिषद् का अधिवेशन दिल्ली में प्रारम्भ हुआ।

२ फरवरी को वायसराय ने परिषद् में वक्तृता देते हुए सहयोग की आन्तरिक कामना प्रकट की और ४ फरवरी को सर जान साइमन अपने सहयोगियों सहित दिल्ली पहुंचे। दिल्ली पहुंचने पर उनका विराट जनसमुदाय ने बहिष्कार किया। ६ फरवरी को सर जान साइमन ने वायसराय को एक पत्र लिखा जिसमें कमिशन की कार्यशैली पर प्रकाश डालते हुए एक विस्तृत वक्तव्य दिया जो दूसरे दिन प्रकाशित हुआ। किन्तु वह भी देश को सन्तुष्ट नहीं कर सका। उक्त वक्तव्य के प्रकाशित होने के दो तीन घण्टों के भीतर ही दिल्ली स्थित राजनीतिक नेताओं ने एक वक्तव्य प्रकाशित करते हुए कहा कि, "हमलोगों ने सर जान साइमन के आज के प्रकाशित वक्तव्य को सावधानी के साथ पढ़ा है। हमारी आपत्ति कमिशन के वर्तमान गठन, उसकी कार्य प्रणाली तथा उसकी विघोषित योजना पर सिद्धान्त के आधार पर है। इस स्थिति में हमलोग इस निश्चय पर दृढ़ हैं कि किसी भी रूप में हम इसके साथ सहयोग नहीं कर सकते।" इसी आशय का एक प्रस्ताव १६ फरवरी १९२८ को लाला लाजपत राय ने व्यवस्थापिका परिषद् में भी उपस्थित किया और वह भी बहुमत से स्वीकृत हो गया। १९२८-२९ में कमिशन ने सारे देश का दौरा किया, मत लिये, गवाहियां लीं और अपना खरीता तैयार करने का काम जारी रखा, किन्तु जहां कहीं भी वे गये सर्वत्र उनका बहिष्कार हुआ। देश का लोकमत विक्षुब्ध था, अनेक स्थानों पर अप्रिय, शोचनीय घटनाएँ भी हो गयीं।

साइमन कमिशन को जिन बातों की जांचकर अपनी रिपोर्ट देनी थी वे इस प्रकार हैं :—

(१) १९१९ ई० का शासन विधान किस प्रकार काम कर रहा है (२) भारत में शिक्षा की प्रगति कैसी है ? (३) भारतीय स्वायत्त शासन के उत्तरदायित्व का भार वहन करने में कितने योग्य हैं ? (४) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का भावी रूप किस प्रकार का रखा जाय और (५) ब्रिटिश प्रान्तों के साथ देशी राज्यों का भावी सम्बन्ध किस प्रकार का रखा जाय। उक्त विषयों की तालिका से ही स्पष्ट है कि सारी योजना का आधार ही भारतीयों की योग्यता के प्रति अविश्वास की भावना पर अवलम्बित था और फिर इसकी जांच करनेवाले भी हमारे शासक ही थे। कमिशन में एक भी भारतीय नहीं रखा गया था, इसलिये कुछ लोग इसे साइमन कमिशन न कहकर, 'श्वेत कमिशन' कहा करते थे। इसके प्रति किसी की भी आन्तरिक सहानुभूति नहीं थी।

नेहरू रिपोर्ट—

लार्ड बर्केन हेड, तत्कालीन भारत सचिव, ने भारतीयों को सर्व सम्मत विधान निर्माण की जो चुनौती दी थी, स्वराज्यदल ने उसे स्वीकार किया और अन्यान्य दल भी भारतीय शासन विधान सम्बन्धी ब्रिटिश नीति से असन्तुष्ट थे, अतः एक सर्वदल सम्मेलन कर सर्व सम्मत विधान निर्माण की योजना के अनुसार उक्त सम्मेलन द्वारा भावी विधान की रूपरेखा सम्बन्धी सुझाव देने के लिये फरवरी १९२८ में नियुक्त उप समिति ने अपनी

रिपोर्ट तैयार की जिसपर २८ अगस्त १६२८ को लखनऊ में होनेवाले सर्वदल सम्मेल में विचार विमर्ष हुआ। उक्त रिपोर्ट पर पंडित मोतीलाल नेहरू, उदार दल के नेता सर तेजबहादुर सप्रू तथा तथा सर अली इमाम के हस्ताक्षर थे। उक्त उपसमिति ने साम्प्रदायिक समस्या पर वैधानिक दृष्टिकोण से विचार किया और भारत के राजनीतिक लक्ष्य को भी निर्धारित किया। दक्षिण पन्थी नेताओं की सम्मति में साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य ही भारत का लक्ष्य निधारित किया गया किन्तु वामपंथी दल के नेता के रूप में पंडित जवाहरलाल ने पूर्ण स्वराज्य का ही समर्थन किया।

देशी राज्यों के सम्बन्ध में नेहरू कमिटी ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए रिपोर्ट में लिखा:—"यदि देशी राज्य संघ भावना की समस्त अनिवार्य बातों को समझते हुए स्वेच्छापूर्वक भारतीय संघ में सम्मिलित होना चाहें तो हम उनके ऐसे निर्णय का हार्दिक स्वागत करेंगे और वे अपने समस्त अधिकारों एवं सुविधाओं का उपभोग कर सकें, इसके लिये हम यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे। किन्तु यह बात भलीभांति हृदयंगम करलेनी चाहिये कि इस स्थिति में विभिन्न अंशों में देशी राज्यों को प्रचलित शासन प्रणालियों में परिवर्तन लाना पड़ेगा।"

२८ अगस्त को लखनऊ में सर्वदल सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ उसमें भारत के राजनीतिक लक्ष्य को लेकर पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अल्पसंख्यक नेताओं ने बहुमत

से जो मतभेद प्रकट किया, उसके परिणामस्वरूप दोनों मतों में सामञ्जस्य लाने की दृष्टि से यह निश्चय किया गया कि:— "जो दल पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में हैं, उनके कार्यों पर बिना किसीप्रकार का प्रतिबन्ध लगाते हुए, सम्मेलन का मत है कि शासन विधान उत्तरदायी होना चाहिये और यह विधान किसी भी अन्य उपनिवेश की व्यवस्था से निम्न श्रेणी का नहीं होना चाहिये।" दिसम्बर, १९२८ में कलकत्ता में सर्वदल सम्मेलन का अन्तिम अधिवेशन हुआ। गाँधीजी इधर वर्षों से राजनीति में सक्रिय भाग नहीं ले रहे थे, उन्होंने अपना सारा समय रचनात्मक कार्यक्रम में ही लगाया था, किन्तु अब वे पुनः राजनीतिक क्षेत्र में उतरे। उन्हीं के प्रयत्न से नेहरू रिपोर्ट पर सम्मेलन की स्वीकृति इस शर्त के साथ प्राप्त हुई कि 'कांग्रेस उक्त विधान से बाध्य नहीं रहेगी, यदि ३१ दिसम्बर १९३० तक अथवा उसके पहले ही सरकार द्वारा उसे मान्यता नहीं प्राप्त हो जाती।" बाद को यह अवधि उन्होंने घटाकर एक वर्ष की कर दी। ब्रिटिश सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया, अतः १ जनवरी १९३० को कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी।

लार्ड इरविन की घोषणा—

इस प्रकार शासन सुधार के लिये सारे देश में लोकमत जाग्रत था, साथ ही कतिपय घटनाएँ काफी महत्व की हो चली

थीं। एक ओर आतंकवादियों ने स्वाधीनता के लिये हिंसा का अवलम्बन करने की नीति अपनायी और दूसरी ओर दमन का चक्र भी निरंकुशता के साथ चलने लगा। वास्तविकता यह थी कि भारत-सम्बन्धी ब्रिटिश घोषणाओं में देश की आस्था जाती रही। अतः २८ जनवरी १९२९ को वायसराय लार्ड इरविन ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् के समक्ष वक्तृता देते हुए कहा :—"मैं इस परिषद् से तथा इसके द्वारा भारत से कह देना चाहता हूं कि १९१७ की घोषणा बनी हुई है और यह सदा ही बनी रहेगी क्योंकि ब्रिटिश सरकार इसके द्वारा वचनबद्ध है कि एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये यथासाध्य सबकुछ करने के लिये उद्यत हैं और यह ऐसा वचन है जिसे ब्रिटेन निवासी कभी भंग नहीं करेंगे। अगर भारत में ऐसे लोग हैं जो ब्रिटेन की नेकनीयती में अविश्वास करते हैं तो ब्रिटेन में भी ऐसे लोग हैं जो भारतीयों के अभियोग को निर्मूल और निराधार मानते हैं और भारत के पक्ष में बोलनेवालों पर अविश्वास करते हैं।" इसके पश्चात् वायसराय ने विलायत से लौटने के बाद ३१ अक्टूबर १९२९ को पुनः एक घोषणा की। उक्त घोषणा में उन्होंने कहा कि औपनिवेशिक पद भारत की तर्कसंगत महत्वाकांक्षा है। उन्होंने कहा:—"१९१९ के शासन विधान को लेकर ब्रिटिश सरकार की भावना के विभिन्न विश्लेषण भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन—दोनों ही में किये जाते हैं और शंकाएँ प्रकट की जाती हैं।

इसलिये सम्राट की सरकार ने मुझे यह स्पष्ट करने के लिये अधिकार दिया है कि १९१७ ई० की घोषणा में यह स्पष्टतः निहित है कि भारत की सहज स्वाभाविक राजनीतिक प्रगति का अर्थ औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति है।" इसके साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की कि साइमन कमिशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया जायगा जिसमें शासन विधान सम्बन्धी अन्तिम रूपरेखा निश्चित करने के पूर्व भारतीयों को अपना विचार पूर्णतः और स्पष्टतः प्रकट करने का अवसर मिलेगा।

औपनिवेशिक बनाम पूर्ण स्वराज्य—

वायसराय की उक्त घोषणा पर देश के विभिन्न दलों तथा विभिन्न विचारधाराओं के व्यक्तियों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। कई लोगों ने उसमें भावी सुधारों की आशा की और वे उसके पक्ष में हुए। किन्तु कांग्रेस ने औपनिवेशिक पद के पक्ष में जो समय निर्धारित किया था, वह समाप्त हो चला था। कांग्रेस का अधिवेशन एवं कार्य समिति की बैठक उन दिनों लाहौर में हुई। वायसराय ने गाँधीजी, मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू तथा व्यवस्थापिका के अध्यक्ष श्री विट्ठल भाई पटेल से परामर्श कर उन्हें गोलमेज परिषद् में भाग लेने के पक्ष में तैयार करना चाहा। किन्तु लगातार सात दिनों की बैठक के पश्चात् कांग्रेस कार्य समिति ने एक विस्तृत वक्तव्य देते हुए वायसराय

की घोषणा को अपर्याप्त ठहराया और देश के सामने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा उपस्थित की जिसमें व्यवस्थापिकाओं के बहिष्कार, रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाने तथा आवश्यक समझे जाने पर भद्र अवज्ञा आन्दोलन तक चलाने के पक्ष में अपना निश्चय दिया। कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए घोषणा की:—"गतवर्ष कलकत्ता में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस विधान की प्रथम धारा में प्रयुक्त शब्द 'स्वराज्य' का अर्थ पूर्ण स्वराज्य से है और यह भी घोषणा करती है कि नेहरू कमिटी की सम्पूर्ण योजना समाप्त हो चली है। यह आशा करती है कि सभी कांग्रेस जन भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिये ही एकमात्र प्रयास करेंगे!" कांग्रेस ने गाँधीजी को सत्याग्रह करने का भी अधिकार दिया। देश में सर्वत्र असन्तोष व्याप्त था। १२ मार्च १९३० को गाँधी जी ने सत्याग्रह का बिगुल बजा दिया। आन्दोलन तीव्र गति से चल पड़ा और सहस्रों नरनारी जेल गये और दमन चक्र भी आन्दोलन की भांति ही तीव्र गति से चल पड़ा। ५ मई को गांधीजी पकड़कर शाही बन्दी बना लिये गये, ३० जून को कांग्रेस कार्य समिति अवैध घोषित कर दी गयी। सभी चोटी के नेता जेलों में बन्द कर दिये गये। जनता नेतृत्व बिहीन अपना मार्ग स्वयं चुनने के लिये स्वतंत्र हो गयी। सारे देश में आन्दोलन चालू हुआ तो अनेक स्थानों पर आतंककारी घटनाएँ भी हुईं। शोलापुर में फौजी कानून जारी किया गया। १८ अप्रैल को प्रख्यात चटगांव अस्त्रागार

काण्ड हुआ, कलकत्ते के पुलिस कमिश्नर सर चार्ल्स टेगर्ट पर बम फेंका गया, बंगाल के इन्स्पेक्टर जेनरल मि० लोमैन मार डाले गये, कर्नल सिम्पसन बंगाल सचिवालय में और एक सैनिक अफसर की पत्नी श्रीमती कुर्टिस मार डाली गयीं और उनके बच्चे घायल हुए। सीमा प्रान्त में खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में लाल कुर्तीवाले खुदाई खिदमतगारों ने अनोखा अहिंसक आन्दोलन चलाया।

देश की यह स्थिति थी जिसमें जून १९३० में साइमन कमिशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कमिशन ने भारत के लिये संघ शासन को अनावश्यक बताया, प्रान्तीय स्वराज्य की एक योजना उसने उपस्थित की। ९ जूलाई १९३० को व्यवस्थापिका परिषद् के समक्ष भाषण करते हुए वायसराय ने गोलमेज परिषद् की उपयोगिता बतायी किन्तु कांग्रेस के मत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

गोलमेज परिषद्—

प्रथम गोलमेज परिषद्—इसका अधिवेशन १२ नवम्बर १९३० को लन्दन में सेण्ट जेम्स पैलेस में प्रारम्भ हुआ। सम्राट द्वारा इसका उद्घाटन हुआ। परिषद् में ब्रिटिश भारत के ५७ प्रतिनिधि और देशी राजाओं में १३ सम्मिलित हुए। उक्त सभी पारिषद् सरकार द्वारा मनोनीत हुए थे, वे जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं थे। जनसेवक तो जेलों के भीतर बन्द थे। परिषद्

में विचार विनिमय हुआ और संघ शासन का सुझाव स्वीकृत किया गया। उपस्थित देशी नरेशों ने संघ में सम्मिलित होने और सहयोग देने के पक्ष में मन्तव्य प्रकट किया। भावी शासन विधान की रूपरेखा निश्चित करने के लिये परिषद् द्वारा कई उपसमितियों का गठन किया गया। परिषद् का प्रथम अधिवेशन १९ जनवरी १९३१ को समाप्त हुआ। अधिवेशन के अन्तिम दिन, उसके अध्यक्ष प्रधान मंत्री रामजे मैकडोनल्ड ने भाषण करते हुए भावी शासन विधान के सम्बन्ध में कई महत्व की बातों की घोषणा की। भारत संघ बद्ध हो, शासन परिषद् व्यवस्थापिका परिषद् के समक्ष उत्तरदायी हो, ऐसी कई बातों पर प्रधान मंत्री ने प्रकाश डाला।

गाँधी-इरविन समझौता—

परिषद् के कार्यों से कतिपय पारिषद् सन्तुष्ट थे किन्तु वे जानते थे कि उसमें कांग्रेस के भाग लिये बिना उसके निश्चयों को कार्यान्वित करना दुष्कर होगा। किन्तु कांग्रेस को सन्तुष्ट करना आसान नहीं था। कांग्रेस अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ थी। कांग्रेस के नेता बाहर नहीं थे कि उनसे विचार विनिमय किया जा सके। अतः सर तेजबहादुर सप्रू तथा डा० मुकुन्द राव जयकर ने १३ जूलाई १९३० को वायसराय के पास एक पत्र लिखकर गाँधीजी, पंडित मोतीलाल नेहरू तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिलने की अनुमति माँगी। वायसराय

तो येनकेन प्रकारेण स्थिति को सुलझाना ही चाहते थे अतः उन्होंने अपनी अनुमति देदी। मोतीलाल जी तथा जवाहरलाल जी को गाँधीजी से मिलने के लिये यरवदा जेल में पहुंचाया गया। इस प्रकार २३ जूलाई से २५ सितम्बर तक समझौते की वार्ता होती रही। पर सारा प्रयत्न निष्फल रहा।

गाँधी-इरविन पैक्ट--

प्रधान मंत्री ने प्रथम गोलमेज परिषद् के अधिवेशन को समाप्त करते हुए जो वक्तव्य दिया था, उसपर कांग्रेस नेताओं को विचार विनिमय की सुविधा मिल सके, इस दृष्टि से वायसराय ने उक्त वक्तव्य के बाद ही गाँधीजी तथा कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को मुक्त करने की घोषणा की। रिहाई के बाद कांग्रेस नेताओं का वार्तालाप कई दिनों तक सर तेजबहादुर सप्रू, श्री श्रीनिवास शास्त्री तथा डा० जयकर से चलता रहा और अन्त में कार्यसमिति ने गाँधीजी को वायसराय से मिलने का अधिकार प्रदान किया। १७ फरवरी से ५ मार्च तक इस वार्तालाप का क्रम चालू रहा, अन्त में दोनों में एक अस्थायी समझौता हो गया जो बाद को गाँधी-इरविन पैक्ट के नाम से विख्यात हुआ। इसके अनुसार गाँधीजी ने दूसरी गोलमेज परिषद् में भाग लिया।

दूसरी गोलमेज परिषद्—

दूसरी गोलमेज परिषद् ७ सितम्बर से प्रारम्भ होकर १८

दिसम्बर १९३१ तक चलती रही। गांधीजी ने इसमें भाग लिया किन्तु अँगरेज कूटनीतिज्ञों ने उनकी उपस्थिति को निष्फल करने के लिये ऐसा कुचक्र चलाया कि साम्प्रदायिक समस्या ही एकमात्र प्रमुख समस्या बन गयी। उस समय तक ब्रिटिश मंत्रिमण्डल में अनुदार दलियों का प्राधान्य हो चला था और मजदूर सदस्य कर्नल वेजउडबेन के स्थान पर घोर अनुदार सर सैमुएल होर भारत सचिव होकर आये थे। चर्चिल की भांति ही वे भी भारतीयों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के कट्टर विरोधी थे और भारत की साम्प्रदायिक समस्या तो अत्यधिक जटिल बनानेवाले लोगों में वे प्रमुख थे। परिषद् में इस समस्या को जो स्वरूप दिया गया और मुहम्मद अली जिन्ना, हिजहाइनेस आगा खाँ तथा डा० भीमराव अम्बेदकर ने मुसलमानों तथा अछूतों के प्रश्न पर जैसी नीति अपनायी उसमें तत्सम्बन्धी प्रयास में गांधीजी का विफल होना स्वाभाविक था। अँगरेज कूटनीतिज्ञ उन्हें फलीभूत देखना भी नहीं चाहते थे। और यदि वे फलीभूत हुए होते तो आगे चलकर शासन विधान की जो रूप-रेखा हुई, वह न होती और भारत का इतिहास ही आज के इतिहास से सर्वथा भिन्न होता।

साम्प्रदायिक निर्णय—

पारस्परिक विचार विनिमय और आदान-प्रदान द्वारा जब भारतीय नेता साम्प्रदायिक समस्या के समाधान में असफल

रहे तब प्रधान मंत्री रामजे मैकडोनल्ड ने सम्राट की सरकार की ओर से समाधान का भार अपने ऊपर लिया। आगे चलकर उन्होंने अपने निर्णय की घोषणा की और इसे ही साम्प्रदायिक निर्णय कहा जाता है। इस निर्णय के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों को व्यवस्थापिका परिषद में इस प्रकार सीटें प्रदान की गयीं :—साधारण १०५, हरिजन ७१, पिछड़े हुए क्षेत्र ७०, सिख ३५, मुसलमान ४८६, ईसाई २, एँग्लो इण्डियन १२, यूरोपियन २५, व्यापार और उद्योग के प्रतिनिधि ५४, जमींदार ३५, विश्वविद्यालय ८, और श्रमिक ३८। स्पष्ट है कि सीटों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी कि साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के आधार पर ही व्यवस्थापिका के लिये सदस्य निर्वाचित हों और राष्ट्रीयता के आधार पर परिषदों का गठन असम्भव हो जाय। प्रान्तों के लिये भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी और यहां तक कि अछूतों के लिये भी—जो हिन्दू समाज के ही अंग हैं और उसीके अन्तर्गत हैं—पृथक निर्वाचन प्रणाली द्वारा पृथक सीटों को सुरक्षित रखा गया।

पूना पैक्ट—

साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार हरिजनों को जो पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया गया, वह बात सारे देश को खली और यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार भावी व्यवस्था इस प्रकार की करना चाहती है कि देश के सभी प्रमुख अंग आपस

में इस प्रकार छिन्नभिन्न हो जायें कि उनके लिये पुनः सम्मिलित संयुक्त मोर्चा बनाकर विदेशी शासन के विरुद्ध नीति अपनाने और स्वाधीनता के लिये संघर्ष करने की स्थिति ही न रहने दी जाय। गाँधीजी को यह स्थिति सवथा अन्यायपूर्ण एवं अहित-कर प्रतीत हुई, इसलिये उन्होंने इसका प्रतिरोध करने का निश्चय किया। अछूतों के लिये पृथक निर्वाचन की व्यवस्था का उन्होंनें विरोध किया और उक्त प्रणाली का अन्त नहीं हो जायगा तो वे स्वयं अपना शरीरान्त कर देंगे, इस निश्चय की घोषणा करते हुए उन्होंने आमरण अनशन का व्रत ले लिया। उन्होंने इस निश्चय की घोषणा १३ सितम्बर १६३२ को की, उस समय वे यरवदा जेल में थे। डा० अम्बेदकर ने उस समय इस व्रत को "कोरी राजनीतिक चाल" बताया था। २० सितम्बर को गाँधीजी ने घोषणा के अनुसार आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहा कि वह इस प्रकार के नैतिक दबाव को प्रणाली पसन्द नहीं करती, किन्तु यदि तत्सम्बन्धी दल पारस्परिक समझौता करके उसके सामने सर्व सम्मत निर्णय रखें तो वह उनपर विचार कर सकती है। अनेक नेताओं के प्रयास से किसी प्रकार साम्प्रदायिक निर्णय में परिवर्तन किया जा सका। गाँधीजी का जीवन व्यव-स्थापिका परिषद् की सीटों से अधिक मूल्यवान था, अतः हिन्दुओं और सिखों ने सर्वस्व खोकर भी उन्हें बचा लेना चाहा। फलतः अछूतों के लिये संयुक्त निर्वाचन प्रणाली

स्थिर कर दी गयी, किन्तु अछूत नेताओं ने उक्त परिस्थिति एवं मनोवृत्ति का लाभ उठाकर अछूतों के लिये अधिकाधिक सीटों की मांग की और अन्त में उन्हें ७१ के बजाय १४४ सीटें प्रदान की गयीं। इस परिवर्तित व्यवस्था से सबसे अधिक बंगाल के हिन्दुओं की क्षति हुई।। बंगाल में हिन्दुओं को ८० सीटें दी गयीं जिनमें ३० तो अछूतों के लिये सुरक्षित कर दी गयीं और उन्हें इस बात का भी अधिकार दे दिया गया कि वे अन्य सीटों के लिये भी निर्वाचन लड़ सकते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका की २५० सीटों में ५० सीटें भी हिन्दुओं को प्राप्त नहीं हो सकीं। आबादी और कर की दृष्टि से उनकी संख्या क्रमशः ४० प्रतिशत और ८० प्रतिशत थी, पर प्रतिनिधित्व उन्हें १६ प्रतिशत प्राप्त हुआ। यह सब पृथक निर्वाचन प्रणाली को रद्द कर अछूतों के लिये संयुक्त निर्वाचन प्रणाली के लिये किया गया। इसी समझौते को पूना पैक्ट कहते हैं। पूना पैक्ट को ब्रिटिश सरकार ने मान लिया और वह उसके साम्प्रदायिक निर्णय का एक अंग हो गया। यह तो अछूतों के लिये किया गया, किन्तु सम्पूर्ण साम्प्रदायिक निर्णय ही सारे देश की राष्ट्रीयता के लिये घातक था, अतः देश में उसका विरोध हुआ। महामना मालवीय, लोकनायक अणे प्रभृति नेताओं ने इसके विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन खड़ा कर दिया, किन्तु कांग्रेस ने अपनी नीति की घोषणा करते हुए "न तो स्वीकार किया, न अस्वीकार।" कांग्रेस के उक्त निश्चय की बड़ी कटु आलोचनाएं

हुईं। किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं हुआ। मालवीयजी के नेतृत्व में केन्द्रीय व्यवस्थापिका में एक राष्ट्रीय दल—नेशनलिस्ट पार्टी गठित हुई। समय के साथ साम्प्रदायिक निर्णय की घातकता स्पष्ट होती गयी। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से पृथक होते गये और अन्त में मुसलमानों ने अपने लिये एक स्वतंत्र राष्ट्र की मांग की और पाकिस्तान उनकी मांग का प्रत्यक्ष फल है। पाकिस्तान की सृष्टि जिस साम्प्रदायिक आधार पर हुई, उस विष वृक्ष का बीजारोपण साम्प्रदायिक निर्णय में कर दिया गया था और जान-बूझकर किया गया था और विदेशी कूट-नीति के समक्ष अपनी असमर्थताओं में आत्मसमर्पण के अति-रिक्त हमारे पास और कोई मार्ग नहीं था।

तीसरी गोलमेज परिषद्—

साम्प्रदायिक निर्णय के पश्चात् तीसरी गोलमेज परिषद् हुई और यही अन्तिम परिषद् थी। गाँधी जी दूसरी परिषद् से सर्वथा निराश लौटे थे, परिषद् में जैसे कूटनीतिक कुचक्र की रचना की गयी थी, उसे गाँधीजी ने देखा और उन्हें विश्वास हो गया कि अँगरेज भारतीय मनोभावों की अवहेलना करने पर तुले हुए हैं और साथ ही इसका उत्तरदायी भी भारतीयों को ही ठहराना चाहते हैं। इधर देश की हालत चिन्ताजनक हो चली थी। अप्रैल १९३१ में ही लार्ड इर्विन जा चुके थे और उनके उत्तराधिकारी हुए लार्ड विलिंग्डन। लार्ड विलिंग्डन की अनुदार

नीति के परिणामस्वरूप जनता में विक्षोभ व्याप्त हो चला था। युक्त प्रान्त में करबन्दी आन्दोलन चालू हो गया था और सीमान्त की स्थिति भयावह हो चली थी। दिसम्बर के अन्त में गाँधीजी भारत लौटे और वे देश के सम्पर्क में आयें कि ४ जनवरी को ही सरदार बल्लभ भाई पटेल के साथ पकड़ लिये गये। अन्य उच्च कोटि के नेता भी पकड़ लिये गये, आर्डिनेन्स राज्य कायम किया गया। इस परिस्थिति में गाँधीजी ने तीसरी गोलमेज परिषद् में भाग नहीं लिया। पिछली परिषदों से भिन्न तीसरी परिषद् छोटी-सी बैठक थी जिसमें पहले से निश्चित कार्यक्रम को ही कार्यान्वित किया गया।

श्वेत-पत्र—

गोलमेज परिषदों की समाप्ति के बाद भावी भारतीय शासन विधान के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार ने अपनी योजना एक श्वेत पत्र में प्रकाशित की। श्वेतपत्र १८ मार्च १९३३ ई० को प्रकाशित हुआ। योजना अत्यन्त निराशाजनक थी। योजना में इतने संरक्षण रखे गये थे कि प्रगति का द्वार सर्वथा अवरुद्ध हो चले। योजना इतनी अपर्याप्त थी कि कांग्रेस तो उससे सन्तुष्ट हो ही नहीं सकती थी, अन्य सभी दलों द्वारा उसकी कटु आलोचना और तीव्र प्रतिवाद किया गया।

चौथा अध्याय

१९३५ का शासन विधान

ब्रिटिश सरकार ने १९३३ में जो श्वेत पत्र प्रकाशित किया उसमें भारतीय शासन की भावी रूपरेखा चार सिद्धान्तों पर स्थिर की गयी। (१) भारतीय संघ शासन (२) उत्तरदायी केन्द्रीय शासन (३) प्रान्तीय स्वाधीनता तथा (४) वैधानिक आर्थिक संरक्षण और इसके साथ आकस्मिक संकटकालीन स्थितियों में वायसराय के उत्तरदायित्व एवं अधिकार। श्वेत पत्र की योजनाओं पर विचार विमर्श कर अन्तिम सुझाव देने के लिये एक कमेटी गठित हुई जिसमें ब्रिटेन के सभी दलों के प्रतिनिधियों के साथ कतिपय भारतीय प्रतिनिधि भी सम्मिलित कर लिये गये। कमिटी की रिपोर्ट २३ नवम्बर १९३४ को प्रकाशित हुई। ५ फरवरी १९३५ को रिपोर्ट के आधार पर निर्मित शासन विधान की योजना का प्रथम वाचन पार्लमेण्ट में हुआ। जून १९३५ को सामन्त सभा में यह उपस्थित की गयी और कतिपय संशोधनों के साथ सभा ने अपनी स्वीकृति देदी। कामन सभा ने उक्त संशोधनों को स्वीकार कर लिया और योजना अन्तिम रूप से पार्लमेण्ट में स्वीकृत हो गयी। २ अगस्त १९३५ को उक्त भारतीय शासन विधान पर इतनी कठिनाइयों, प्रयासों, प्रतिरोधों एवं

प्रतिवादों के पश्चात् सम्राट का हस्ताक्षर हो गया। १६२८ में शाही कमिशन की नियुक्ति जिस शासन विधान के लिये हुई थी, वह १६३५ में जाकर तैयार हो सका। कहा जाता है कि पार्लमेण्ट के वैधानिक इतिहास में इतना बृहद् काय अन्य कोई विधान स्वीकृत नहीं हुआ। ४५१ पृष्ठों के इस विधान में ४७८ धाराएँ तथा १६ परिशिष्ट थे। विधान की सर्वाधिक स्पष्ट विशेषता यह थी कि यद्यपि अनेक वर्षों से सम्राट की सरकार की ओर से भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा की जाती रही, किन्तु उक्त विधान में इस शब्द का उल्लेख मात्र भी न हो, सरकार द्वारा इसके लिये यथेष्ट सतर्कता रखी गयी। इसकी दूसरी प्रधान विशेषता यह रही कि अबतक सारे देश में एकात्मक शासन प्रणाली थी अब संघ शासन प्रणाली की योजना लायी गयी।

नवीन शासन विधान को कार्यान्वित करने के लिये ब्रिटिश सरकार और उसके संकेत पर चलनेवाली भारत सरकार उत्सुक थी। इस विषय में कठिनाई काँग्रेस को लेकर थी। काँग्रेस सदा से प्रस्तावित योजना के विरुद्ध थी और अप्रैल १६३६ में लखनऊ में पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में होनेवाली काँग्रेस की बैठक में स्वयं नेहरूजी ने कहा था, "ऐसी परिस्थितियों में पद ग्रहण करना अपने विरोध को ही नगण्य ठहराना तथा आत्म-लांच्छित होना होगा।" किन्तु आगे चलकर विधान के कट्टर विरोधी गाँधीजी ने भी विधानवादियों को एक अवसर देना चाहा और काँग्रेस ने चुनाव लड़ने का निश्चय किया। अगस्त

१९३६ में काँग्रेस ने अपना निर्वाचन घोषणा पत्र प्रकाशित कराया। दिसम्बर १९३६ में फैजपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उसमें भी उक्त विधान को ध्वस्त करने की नीति की घोषणा एक प्रस्ताव द्वारा की गयी। फरवरी १९३७ में प्रान्तीय निर्वाचन समाप्त हो गये और पंजाब, सिन्ध, बंगाल, आसाम तथा सीमा प्रान्त को छोड़कर अन्य सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया। किन्तु संरक्षणों का विरोध करते हुए कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाने से तब तक इन्कार कर दिया जबतक कि प्रत्येक प्रान्त का बहुमत प्राप्त कांग्रेसी दल का नेता इस बात से सन्तुष्ट न हो जाय, और इसकी खुली घोषणा न कर दे कि गवर्नर ने इस बात का आश्वासन दे दिया है कि मंत्रिमण्डल के वैधानिक कार्यों में गवर्नर विशेषाधिकार का उपयोग कर कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस आशय का एक प्रस्ताव दिल्ली में होनेवाली आलइण्डिया कांग्रेस कमेटी ने १८ मार्च १९३७ को पास किया। जूलाई १९३७ में भारत सचिव तथा गवर्नर जेनरल ने एतद्विषयक आश्वासन दे दिया। २२ जून १९३७ को वायसराय ने जो वक्तव्य दिया था उस पर विचार करते हुए ७ जुलाई १९३७ को कांग्रेस कार्य समिति ने पद ग्रहण करने के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और तदनुकूल कांग्रेस ने बहुमतप्राप्त प्रान्तों—बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त, बरार, बिहार और उड़ीसा में मंत्रि पद ग्रहण कर लिया। बाद में सीमा प्रान्त और आसाम में भी कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त मंत्रिमंडल शासनारूढ़ हो गये।

१ अप्रैल १९३७ को १९३५ का शासन विधान कार्यान्वित किया गया किन्तु इसका केवल वही भाग कार्यान्वित हो सका जिसका सम्बन्ध प्रान्तों से था। केन्द्रीय शासन व्यवस्था ज्यों की त्यों अपरिवर्तित बनी रही। विधानान्तर्गत संघ व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण थी कि उसके द्वारा संघ का गठन हो ही नहीं सकता था। देशी राज्यों को संघ में सम्मिलित करने की व्यवस्था तो की गयी, पर यह कार्य उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। संघ में सम्मिलित होने के लिये उनकी कोई बाध्यता नहीं थी। आधे से कम देशी राज्यों के सम्मिलित हुए बिना संघ सम्बन्धी अन्य व्यवस्थाएँ नहीं की जासकतीं थीं अतः संघ नहीं बन सका, केवल एक संघ न्यायालय की स्थापना ६ न्यायाधीशों को लेकर कर दी गयी।

प्रान्तों में कार्यान्वित होनेवाले १९३५ के शासन विधान की कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं :—

प्रान्तों को गवर्नरों तथा चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों के रूप में दो प्रकारों में विभाजित कर दिया गया। बम्बई, मद्रास, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त और बरार, पंजाब, सीमा प्रान्त, और सिन्ध गवर्नरों के तथा अजमेर, मेरवाड़ा, ब्रिटिश बिलोचिस्तान, दिल्ली, कुर्ग, अण्डमन, नीकोबार चीफ कमिश्नरों के प्रान्त हुए। गवर्नरों के प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी और चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व केन्द्र के अधीनस्थ रखा गया।

प्रान्तीय स्वाधीनता और उत्तरदायी शासन यह दो प्रमुख विशेषताएँ १६३५ के शासन विधान में रहीं। गवर्नर की शासन परिषद् के सदस्य स्वेच्छापूर्वक, पहले कुछ भी कर सकते थे, किन्तु अब मंत्रियों को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होना पड़ा और उसका विश्वास भाजन हुए बिना वे शासन करने में असमर्थ थे। केन्द्र के हस्तक्षेप से भी प्रान्तों को मुक्त कर दिया गया, इसलिये प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों को कार्य करने की अत्यधिक स्वतंत्रता मिल गयी। लार्ड हार्डिंज ने १६११ में एक भविष्य-वाणी की थी, वह १६३५ में जाकर चरितार्थ हुई। भारत सचिव के पास एक खरीता भेजते हुए उसमें उन्होंने कहा था कि, "सपरिषद् गवर्नर जेनरल की धारणा है कि किसी दिन भारतीयों की न्यायोचित मांग को स्वीकार करने के लिये हमें वाध्य होना पड़ेगा और उन्हें शासन तंत्र में अधिकाधिक भाग देना ही पड़ेगा।" इस समस्या के समाधान के लिये लार्ड हार्डिंज ने उसी खरीते में लिखा था "इस समस्या के समाधान का एकमात्र यही मार्ग है कि प्रान्तों में भारतीयों के हाथ में उत्तरदायी शासन दे दिया जाय।" इस प्रकार प्रान्तों में 'द्वैध' शासन प्रणाली का अन्त हो चला, किन्तु केन्द्र में अब भी वही योजना रखी गयी। सुरक्षा, विदेशी सम्बन्ध, इसाई धर्म तथा कवाइली इलाकों का शासन संरक्षित विषय रखे गये। शेष विषय मंत्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये, किन्तु इन विषयों में भी गवर्नर जेनरल को विशेषाधिकार के नाते हस्तक्षेप का अधिकार

सुरक्षित रखा गया। प्रान्तों में भी विशेषाधिकार गवर्नरों के हाथ में सुरक्षित रखे गये, यद्यपि इनका उपयोग न करने का आश्वासन कांग्रेस मंत्रिमण्डलों द्वारा शासित प्रान्तों में सरकार द्वारा दिया जा चुका था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। १९१९ के शासन विधान के अनुसार केवल ३ प्रतिशत नागरिकों को मताधिकार दिया गया था, किन्तु १९३५ के शासनाधिकार के अन्तर्गत १३ प्रतिशत मताधिकार दे दिया गया। स्त्रियों को भी मताधिकार देकर राजनीति में भाग लेने का अधिकार दे दिया गया।

नये विधान के अनुसार बर्मा को भारत से पृथक कर दिया गया। सिन्ध और उड़ीसा दो नये प्रान्त बनाये गये। संघ न्यायालय तथा रिजर्व बैंक की स्थापना की गयी।

भारत सचिव की परिषद् का अन्त कर दिया गया और उसके अधिकारों को भी अत्यन्त सीमित कर दिया गया।

गवर्नरों के जिन विशेषाधिकारों की कटुतम आलोचना उक्त शासन विधान को लेकर हुई, उनके सम्बन्ध में गवर्नर स्वेच्छापूर्वक कार्य कर सकता था। निम्नप्रकार की स्थितियों में उसे विशेषाधिकार का प्रयोग करने की व्यवस्था की गयी—(१) प्रान्त के किन्ही भागों में अशान्तिमूलक एवं तत्सम्बन्धी कारवाइयों का दमन (२) अल्प संख्यकों के न्यायोचित हितों का संरक्षण (३) सरकारी नौकरों, आई०सी०एस० के उच्च कर्मचारियों के न्यायोचित अधिकारों का संरक्षण (४) ग्रेट ब्रिटेन और बर्मा से आनेवाले

माल के विषय में व्यापारिक भेदभाव का निराकरण (५) प्रान्त के किसी भी पृथक घोषित भाग की शासन व्यवस्था (६) देशी रियासतों और उनके नरेशों के अधिकारों एवं मर्यादा की रक्षा (७) विशेषाधिकार के अनुसार जारी किये हुए गवर्नर जेनरल के आदेशों को कार्यान्वित करना. (८) मंत्रियों की स्वेच्छापूर्वक नियुक्ति तथा मंत्रिमण्डल की बैठक में अध्यक्षता करने का अधिकार (९) वैधानिक शासन विफलता पर प्रान्त का समस्त शासनाधिकार (१०) नागरिक अथवा सैनिक विभाग की स्वेच्छापूर्वक व्यवस्था (११) गुप्तचर विभाग पर पूर्ण अधिकार और (१२) अपनी विवेक बुद्धि के आधार पर शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिये कानून जारी करने का अधिकार। इस प्रकार उक्त अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों के कारण गवर्नरों को तानाशाही के-से अधिकार प्रदान कर दिये गये थे।

व्यवस्थापिका परिषद—

मताधिकार के विस्तृत होने के साथ प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों में वृद्धि हो गयी। प्रान्तों की दोनों ही धारा सभाओं का निर्वाचन साम्प्रदायिक आधार पर पृथक निर्वाचन प्रणाली द्वारा करने की व्यवस्था की गयी। हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों, युरोपियनों, एँग्लोइण्डियनों, भारतीय ईसाइयों तथा आदिवासियों के लिये जातीय तथा साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचित क्षेत्रों का बँटवारा करदिया गया। व्यापार,

उद्योग, वाणिज्य, जमींदार तथा विश्वविद्यालय—वर्गों के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये। साम्प्रदायिक एवं जातीय आधार पर ही महिलाओं को भी अपनी सुरक्षित सीटों के लिये चुनाव लड़ने का अधिकार दिया गया। व्यवस्थापिका परिषदों को कानून निर्माण, राजस्व तथा शासन निरीक्षण का अधिकार प्राप्त हुआ। कानून व्यवस्था के लिये विधान में तीन सूचियां बनायी गयीं। संघ सूची के अन्तर्गत उल्लिखित विषयों पर केन्द्र को ही कानून बनाने का अधिकार था। प्रान्त उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते थे। दूसरी सूची के विषय प्रान्त के अधीनस्थ थे। तीसरी सूची के विषयों पर केन्द्र और प्रान्त को समानाधिकार दिया गया। किन्तु तद्विषयक केन्द्रीय कानून के बनने पर तत्सम्बन्धी प्रान्तीय कानून रद्द समझा जाता था। राजस्व सम्बन्धी अधिकार भी व्यवस्थापिका परिषदों के बढ़ा दिये गये। सब प्रान्तीय परिषदों को गवर्नर, एडवोकेट जेनरल, हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ता, प्रान्तीय ॠण तथा पृथक क्षेत्रों के शासन व्यय, ऐसे कतिपय विषयों को छोड़कर सभी विषयों पर व्यवस्था देने का अधिकार था।

१९३५ के शासन विधान की उक्त रूपरेखा थी जिसकी कठोर आलोचनाएँ हुईं। वास्तव में सारी योजना ही इस आन्तरिक भावना के साथ कार्यान्वित की गयी कि भारतीयों के हाथ में शासनसूत्र भलेही दे दिया जाय किन्तु वे किसी प्रकार भी ऐसा कोई कार्य न कर सकें कि भारत में ब्रिटेन के राजनीतिक अथवा

आर्थिक हितों को धक्का लगे। गवर्नर जेनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों के हाथ में जो विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये और उक्त उत्तरदायित्वों का पालन करने के नाम पर जिन व्यापक अधिकारों को उनके हाथ में सुरक्षित रखा गया, वे अत्यन्त आपत्तिजनक थे और वे इस बात के प्रमाण थे कि ब्रिटेन का भारतवासियों की योग्यता अथवा ईमानदारी में विश्वास नहीं था। इसलिये एक ओर जहां प्रान्तीय स्वाधीनता दी गयी, वहीं आकस्मिक स्थितियों में गवर्नर जेनरल के विशेष उत्तरदायित्वों तथा विशेषाधिकारों की भी व्यवस्था की गयी और प्रान्तों में जहां उत्तरदायी शासन प्रणाली प्रचलित की गयी, वहीं गवर्नरों के भी विशेष उत्तरदायित्व तथा अधिकार रखे गये। इस प्रकार प्रकारान्तर से द्वैध शासन प्रणाली को अक्षुण्ण रखा गया। १६ ५ के शासन विधान के कतिपय विधानवेत्ता आलोचकों ने स्पष्ट ही कहा कि, "प्रान्तीय स्वाधीनता द्वैध शासन का नया संस्करण है।" इसी कारण से कांग्रेस ने उक्त विधान को कार्यान्वित करने के पहले उनके प्रयुक्त न होने का आश्वासन मांगा था। उक्त आलोचना यद्यपि सर्वांशतः सत्य नहीं, तब भी उसे सर्वथा निराधार नहीं कहा जासकता।

पांचवाँ अध्याय

भारत स्वतंत्रता के पथ पर

१९३५ के शासन विधान में सन्निहित वायसराय तथा गवर्नरों के विशेषाधिकारों के प्रयुक्त न होने का आश्वासन प्राप्त होने पर बहुमत प्राप्त प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने शासन सूत्र हाथ में लिया किन्तु उनका उद्देश्य उक्त विधान को फलीभूत करना नहीं था। कांग्रेस ने बार-बार इस नीति की घोषणा की थी कि विदेशियों द्वारा निर्मित विधान द्वारा भारतीयों को वह स्वराज्य प्राप्त नहीं हो सकता जो उनका जन्म सिद्ध अधिकार है। इसके लिये भारतीयों को ही अपने विधान का निर्माण करना होगा। १९३६ में फैजपुर में होनेवाली कांग्रेस ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत किया था और उसने स्पष्ट घोषणा की थी कि भारत में "सच्चे गणतंत्र की प्रतिष्ठा बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान परिषद द्वारा ही हो सकती है।" इसके पश्चात् १९३७ में दिल्ली में एक राजनीतिक सम्मेलन हुआ जिसमें प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों ने भाग लिया। उक्त सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा की कि, "यह सम्मेलन इस बात की घोषणा करता है कि भारतीय जनता भारत के राजनीतिक और आर्थिक ढाचें की रूपरेखा निश्चित

करने के लिये किसी भी बाहरी शक्ति के अधिकार को स्वीकार नहीं करती। भारतीय जनता एकमात्र उस वैधानिक रूपरेखा को स्वीकार करेगी जो राष्ट्र के रूप में भारतीय स्वाधीनता के आधार पर इस प्रकार निर्मित किया गया हो जिससे भारतीयों को अपनी आवश्यकताओं एवं अपनी आकांक्षाओं के विकास एवं पूर्ति का अवसर मिले।"

इस प्रकार के मनोभावों को लेकर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने कार्य करना शुरू किया। और उक्त मंत्रिमंडलों ने नवम्बर १९३९ तक शासन किया। इस बीच में युरोपीय महासमर का सूत्रपात हो गया। कांग्रेस भारत को युद्ध में सम्मिलित करने के विरुद्ध थी। किन्तु ब्रिटिश सरकार के साथ-साथ भारत सरकार ने भी ३ सितम्बर १९३९ को भारत को भी युद्ध में सम्मिलित करने की घोषणा कर दी। इस विषय में सरकार ने लोकमत की कुछ भी परवाह नहीं की। ऐसी घोषणा के पहले मंत्रिमंडलों से भी परामर्श नहीं लिया गया। भारत सरकार युद्ध उद्योगों में जनता के सहयोग के बिना सफलता नही प्राप्त कर सकती थी अतः लोकमत को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से पुनः नये आश्वासन देने शुरू किये। १७ अक्टूबर १९३९ को गवर्नर जेनरल ने एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने कहा कि युद्ध समाप्त होते ही भारतीय महत्वाकांक्षाओं के आधार पर १९३५ के शासन विधान में परिवर्तन कर दिया जायगा। भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देना ही ब्रिटेन का उद्देश्य है। किन्तु कांग्रेस को इस पर विश्वास

नहीं हुआ, क्योंकि कांग्रेस ने देखा था कि संकटकाल में सरकार इसी प्रकार के आश्वासन देती और संकट मुक्त होने पर उसे तोड़ती चलती है। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने पदत्याग कर दिया। फलतः १९३५ के शासन विधान की धारा ९३ के अनुसार प्रान्तों के शासन की बागडोर गवर्नरों ने अपने हाथ में ली। मार्च १९४६ तक इस प्रकार का शासन चलता रहा। युद्ध उद्योगों के नाम पर भारतीय लोकमत का निरंकुशता के साथ दमन किया गया।

इस अवसर पर अखिलभारतीय मुस्लिम लीग तथा उसके नेता मि० मुहम्मद अली जिन्ना का उल्लेख आवश्यक है। पिछले अनेक वर्षों से जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग कांग्रेस का विरोध करती रही और जब कांग्रेस को समस्त देश की ओर से बोलने का अधिकार स्वतः प्राप्त हो चला तो मुस्लिम लीग ने भी अत्यन्त कटुविरोधी नीति अपनायी। अनेक बार अनेक नेताओं ने जिन्ना से पत्र व्यवहार कर और मिलजुल कर आश्वासन, शर्तें देकर और सम्पूर्ण अधिकार दे देने का आश्वासन देकर लीग तथा उसके नेता को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु किसी को कुछ भी सफलता नहीं मिली। मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। जिन्ना ने न केवल दल की हैसियत से कांग्रेस का विरोध किया बल्कि उन्होंने अखण्ड भारत तथा उसकी पूर्ण स्वाधीनता के मार्ग को भी कण्टकाकीर्ण किया। जिन्ना की मनोवृत्ति इतनी दूषित एवं अविवेकपूर्ण हो चली थी कि कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पदत्याग

के पश्चात् उस पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिये उन्होंने मुसलमानों से १२ दिसम्बर १६३६ को एक "मुक्ति दिवस" मनाने का अनुरोध किया। कांग्रेसी "अत्याचार, अनाचार एवं अन्याय" का अन्त होने के नाम पर उक्त मुक्ति दिवस का आयोजन जिन्ना के आदेश से मुसलमानों ने किया था।

साम्प्रदायिक अनैक्य से अनुचित लाभ ब्रिटिश साम्राज्यवादी बराबर उठा रहे थे। इसका साधन पहले साम्प्रदायिक उपद्रवों को बनाया जाता रहा और अब जब साम्प्रदायिक उपद्रव नहीं थे तब राजनीतिक क्षेत्रों में साम्प्रदायिक द्वन्द्व का कूटनीतिक मल्ल युद्ध चलने लगा। सरकार कभी इस ओर, कभी उस ओर थी, किन्तु वह हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों पर अधिक भरोसा करती थी और उसकी यह भावना सर्वथा निराधार नहीं थी। कांग्रेस के पूर्ण स्वाधीनता के दावे का विरोध भी इसी साम्प्रदायिकता के आधार पर बराबर किया जाता रहा। महा समर छिड़ते ही जब भारत को भी अनिच्छापूर्वक उसमें भारत की विदेशी सरकार ने घसीट लिया तब भी कांग्रेस का मत स्पष्ट था। वह पराधीन होकर भारतीय जनता को युद्ध में नहीं झोंकना चाहती थी। उसका स्पष्ट मन्तव्य था कि यदि युद्ध का अन्त होते ही विधान परिषद् द्वारा भारतीयों को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार प्रदान कर दिया जाय तो इससे भारतीय जनता को युद्ध में अपनी आहुति देने का उत्साह होगा, अन्यथा भारत को ब्रिटेन के साम्राज्यवादी युद्ध में सम्मिलित होने का कोई

उत्साह नहीं। भारत सचिव ने कांग्रेस के इस दावे को भी साम्प्रदायिक अनैक्य के नाम पर ठुकरा दिया। इस पर मंत्रि-मण्डलों का पदत्याग हुआ था, पर स्वेच्छापूर्वक वैयक्तिक सत्याग्रह के अतिरिक्त कांग्रेस ने मार्ग में अबतक कोई रोड़ा नहीं अँटकाया था। जूलाई १६४० में उसका प्रस्ताव समझौते की दृष्टि से बिलकुल उचित था कि, "निर्वाचित प्रतिनिधियों—व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्यों, को लेकर केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार और प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय।"

सरकार येनकेन प्रकारेण भारतीय राष्ट्रवादियों का समर्थन चाहती थी, क्योंकि वह भलीभांति जानती थी कि लोकमत उन्हीं के हाथ में है, अतः ८ अगस्त १६४० को वायसराय ने एक घोषणा की। "अगस्त घोषणा" के नाम से इस वक्तव्य का अत्यधिक प्रचार किया गया। उक्त घोषणा में भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की बात कही गयी थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वायसराय ने प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को लेकर अपनी शासन परिषद् का विस्तार, युद्ध परामर्शदात्री समिति का गठन, अल्प मतवालों को उचित स्थान देने का भी आश्वासन उस घोषणा द्वारा दिया गया।

उक्त घोषणा में युद्ध प्रयासों में सहायता की याचना करते हुए इस बात का भी आश्वासन दिया गया कि युद्ध समाप्त हो जाने के बाद विधानपरिषद् द्वारा भारत के नये शासन विधान का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया जायगा। किन्तु "अगस्त घोषणा"

का कहीं भी स्वागत नहीं हुआ। युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व जिस घोषणा पर लोग हर्षातिरेक से आह्लादित हो उठते, उसीके प्रति सभी दलों ने अवहेलना का ही भाव दिखलाया, क्योंकि ब्रिटेन की सदाशयता में किसी की आस्था नहीं रह गयी थी।

किन्तु परिस्थिति उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही थी। नवम्बर १९४१ में जापान ने अकस्मात् आक्रमणात्मक नीति अपनायी और अविलम्ब पर्ल हार्बर पर उसने धावा बोल दिया। अभेद्य दुर्ग सिंगापुर का पतन हुआ और जापानी बर्मा पहुंच गये। युद्ध की दृष्टि से और भौगोलिक दृष्टि से भारत की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गयी और अब भारतीय लोकमत को सन्तुष्ट न करना घर के भीतर ही भयावनी सम्भावनाओं को बनाये रखना था। इसलिये ब्रिटिश नीतिज्ञों ने अविलम्ब कारवाई की और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के एक प्रभावशाली सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। सर स्टैफर्ड मार्च १९४२ में आये और उनके आने के साथ भारतवासियों को बड़ी-बड़ी आशाएँ हुईं। उनकी आशाओं का आधार यह था कि क्रिप्स समाजवादी विचारधारा के सुलझे हुए मस्तिष्क के व्यक्ति थे और नेहरू जी के साथ उनका सम्पर्क था, अतः वे भारतीयों के मनोभावों को चर्चिल पंथियों की अपेक्षा अधिक सहानुभूति के साथ समझ सकेंगे, ऐसी आशा बहुतों को हुई। दूसरा कारण यह था कि १५ फरवरी को ही सिंगापुर का पतन हो चुका था और भारत पूर्व में ब्रिटिश रक्षा-पंक्ति का प्रधान अंग था। और इस

विषय में तबतक सफलता नहीं मिल सकती जबतक भारतीयों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो जाती। तत्कालीन विषम परिस्थिति में रक्षा का प्रश्न विकटतम था और इसके लिये कांग्रेस ने स्पष्ट मत व्यक्त किया था कि रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व किसी भारतीय को दिया जाय। भारत को लेकर रक्षा का प्रश्न भयावह हो चला है और किसी भारतीय को छोड़कर और कोई इसे हल भी नहीं कर सकता। कांग्रेस का उक्त मन्तव्य सर्वथा समीचीन था और अँगरेज कूटनीतिज्ञ उसके महत्व को समझेंगे, ऐसी आशा थी। क्रिप्स ने स्वतः भी शासन सूत्र आने के पहले भारतीयों के प्रति सुन्दर उद्‌गार व्यक्त किये थे, अतः वे इस संकटकाल में समयोचित कारवाई कर, भारतीय लोकमत को सन्तुष्ट कर सकेंगे, ऐसी आशा निराधार नहीं थी।

किन्तु क्रिप्स जितनी आशा लेकर आये थे, उससे कहीं अधिक निराशा देकर वापस गये। क्रिप्स योजना की प्रमुख बातें यह थीं :—

औपनिवेशिक रूप में भारत को संघबद्ध करने की बात स्वीकार की गयी थी और अन्य उपनिवेशों के समान ही इसका पद एवं मर्यादा बतायी गयी। यह युद्धोत्तर कालीन योजना थी, जिसके कार्यान्वित करने का अधिकार उस विधान परिषद् को दिया गया, जो युद्धोपरान्त बुलायी जाती। उसमें देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के लिये भी भाग लेने की व्यवस्था की गयी। विधान सभा को विधान निर्माण सम्बन्धी स्वाधीनता केवल इस

शर्त के साथ दी गयी कि उसे अल्पसंख्यकों के हितों को संरक्षित करते हुए कार्य करना होगा, देशी राज्यों तथा प्रान्तों को भी इस बात की स्वाधीनता दी गयी कि यदि विधान परिषद् द्वारा निर्मित विधान को वे अस्वीकार्य पायें तो उन्हें उसे अस्वीकार करने तथा संघ से पृथक होने का अधिकार होगा। ऐसी स्थिति में वे भी स्वाधीन उपनिवेश के रूप में रहने के अधिकारी होंगे।

क्रिप्स की अल्पकालीन योजना के अन्तर्गत गवर्नर जेनरल की शासन परिषद् के राष्ट्रीयकरण की कोई बाध्यता नहीं रखी गयी। यद्यपि शासन परिषद् के कार्यों में गवर्नर जेनरल हस्तक्षेप न करें, इसकी व्यवस्था की गयी।

उक्त युद्धोत्तर तथा अल्पकालीन—दोनों ही योजनाओं का कांग्रेस ने विरोध किया। रक्षा विषयक क्रिप्स योजना कांग्रेस के लिये अमान्य थी ही, जैसा कि कहा जा चुका है, कांग्रेस यह भी नहीं चाहती थी कि योजना के अनुसार देश छिन्न-भिन्न हो जाय और जिस किसी भी रियासत अथवा प्रान्त को अपना पृथक स्वतंत्र उपनिवेश बनाने की स्वतंत्रता हो। ऐसा करना देश के भविष्य के लिये सर्वथा विघातक होगा, यह कांग्रेस ने स्पष्ट ही देखा और स्पष्ट ही उसने इसका विरोध किया। कांग्रेस यह भी चाहती थी कि शासन परिषद् एक मंत्रिमण्डल के रूप में संयुक्त उत्तरदायित्व के साथ कार्य करे, और क्रिप्स ने पहले इसका आश्वासन भी दे दिया था, पर कहते हैं कि, तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री मि० विन्स्टन चर्चिल के भीतरी हस्तक्षेप के कारण

उन्हें अपना बचन वापस ले लेना पड़ा। क्रिप्स योजना अच्छी या बुरी, जो कुछ भी थी, उसे स्वीकार करने की एक बहुत बड़ी कठिनाई यह भी थी कि भारतीय राजनीतिक रूपरेखा सर्वथा युद्धोत्तरकालीन थी, वर्तमान में किसी प्रकार के परिवर्तन की व्यवस्था नहीं की गयी थी। गाँधीजी ने सारी योजना को केवल दो शब्दों में व्यक्त करते हुए इसे ऐसा चेक बताया था जिसके भुनाने की तिथि बाद की हो (Post Dated Cheque) साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यह चेक भी उस बैंक का है जिसका दिवाला निकल चुका हो, और वास्तव में उस समय की स्थिति देखते हुए ब्रिटेन को विजय की आशा किसी बहुत बड़े आशावादी को ही हो सकती थी। योजना में मुसलमानों की मांग—पाकिस्तान के आधार पर बँटवारे की व्यवस्था कर दी गयी थी, यद्यपि उसे साम्प्रदायिक नहीं, राजनीतिक स्वरूप में व्यक्त किया गया था, फिर भी मुसलमानों ने भी उसे स्वीकार नहीं किया। देश के लोकमत को देखते हुए उन्हें आशा नहीं थी कि लोग कांग्रेस के सामने मुसलिम लीग की सुनेंगे। साथ ही मुसलमान अखंड भारत के रूप में किसी भी योजना को स्वीकार नहीं करना चाहते थे और ब्रिटिश अनुदार दली इस विषय में उनके साथ थे अतः उन्होंने भी योजना को असन्तोषजनक बताकर उसे ठुकरा दिया। एक प्रमुख मुसलिम लीगी ने तो यहां तक कह डाला था कि, यदि क्रिप्स योजना को स्वीकार कर लिया जाय तो १० करोड़ मुसलमान तबाह हो जायेंगे।

अन्त में बिना किसी समझौते के क्रिप्स को भारत से वापस जाना पड़ा। क्रिप्स स्वयं भी निराश एवं विक्षुब्ध थे और सबसे अधिक वे विक्षुब्ध थे कांग्रेस पर। प्रस्थान के पूर्व उन्होंने करांची में एक वक्तव्य देते हुए कहा था कि कांग्रेस को कुछ नहीं मिला और उसका कारण यही था कि कांग्रेस सबकुछ चाहती थी। उन्होंने गाँधीजी पर भी यह मिथ्या आरोप लगाया कि वे अपने ही दल के लिये सबकुछ मांगते थे।

क्रिप्स तो क्षुब्ध होकर गये, लेकिन देश उनसे भी अधिक विक्षुब्ध हुआ। काँग्रेस की यह धारणा दृढ़ हो गयी कि केवल संसार की आंखों में धूल झोंकने के लिये और भारतीयों पर दोषारोपण करके उन्हें बदनाम करने के लिये ही क्रिप्स-कुचक्र रचा गया था। लोकमत पहले से सर्वथा असन्तुष्ट और नितान्त विक्षुब्ध था और उधर जापानी विजेता के रूप में अग्रसर होते जा रहे थे और भारत के लिये खतरनाक सम्भावनाएं बनती जा रही थीं। इसलिये कांग्रेस कार्यसमिति ने अपना प्रख्यात "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया और उसकी स्वीकृति के लिये बम्बई में ८ अगस्त १९४२ को आलइण्डिया कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन बुलाया गया। ९ अगस्त को कमेटी ने वह प्रस्ताव पास कर दिया।

और इसके साथ ही विप्लव की घंटी बजी। सभी चोटी के नेता तत्काल गिरफ्तार हो गये और दमनचक्र तेजी से चलने लगा। किसी क्षेत्र में कोई भी चोटी का नेता बाहर नहीं रह

गया अतः जो बिकराल आन्दोलन चल पड़ा, उसके संचालन का भार जनता ने स्वयं अपने ऊपर ले लिया। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव में कोई ऐसी बात नहीं थी कि हिंसा द्वारा राज्य उलट देने की तैयारी हो, बल्कि उसके द्वारा वायसराय से मिलकर, विचार-विनिमय द्वारा समस्या के समाधान के लिये समझौते का द्वार खुला रखा गया था, किन्तु 'भारत छोड़ो' सुनते ही सरकार एकदम विवेकहीन हो गयी और उसने घोर निरंकुश दमन अविलम्ब और सर्वत्र प्रारम्भ कर दिया। कितने ही जेलों में ठूँस दिये गये और कितने गोली के घाट उतार दिये गये। जनता को भी नियंत्रित करनेवाला कोई नेता नहीं था और सरकार उत्तेजक कार्यों को बढ़ाती जाती थी, अतः जनता ने भी ईंट का जवाब पत्थर से देना शुरू किया और कितने थाने, स्टेशन, तारघर, डाकघर तथा सरकारी आफिस जलाकर ध्वस्त कर दिये गये! इस विषय में कांग्रेस की इस प्रकार की हिंसात्मक कोई योजना थी या नहीं, किन्तु तत्कालीन भारत सचिव मि० एमरी ने स्वयं एक वक्तव्य देकर उन सारे कार्यों की तालिका उपस्थित कर दी और जनता में इसका प्रचार कर दिया कि कांग्रेस इस प्रकार की विध्वंसात्मक योजना कार्यान्वित करना चाहती थी। और जब कांग्रेस ऐसा चाहती है तो जनता क्यों न करे, यह भावना उसमें आयी और उक्त काण्डों की पुनरावृत्ति सारे देश में होने लगी।

अगस्त आन्दोलन—

अगस्त आन्दोलन के सिलसिले में जैसी घटनाएँ घटित हुईं

उन्हें सुन-सुनकर कारागृह में गांधीजी अत्यन्त चिन्तित हुए। सरकार की हिंसा नीति के प्रतिवादस्वरूप उन्होंने १० फरवरी १९४३ को २१ दिनों का व्रत रखने का निश्चय किया। इस समाचार से सारे देश में चिन्ता व्याप्त हो गयी और सर्वत्र गाँधीजी की रिहाई के लिये जनता ने आवाज उठायी। किन्तु सरकार ने कुछ भी नहीं सुना। उग्र रूप में चलते हुए आन्दोलन में उनकी रिहाई करने से सरकार भयभीत थी, साथ ही उसे इस बात की भी आशंका थी कि जो दमनचक्र उसने चला रखा था उसे वह गाँधीजी की आंखों के सामने लाने में भयभीत थी। फलतः गाँधीजी रिहा नहीं किये गये। इस विषय पर वायसराय की शासन परिषद् में भी मतभेद था। इस नीति के साथ अपना मतभेद व्यक्त करने के लिये शासन परिषद् के तीन सदस्यों — लोकनायक अणे, सर होमी मोदी तथा श्री नलिनीरंजन सरकार ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया। सदा की भांति गाँधीजी इस व्रत में भी उत्तीर्ण हुए। ३ मई १९४३ को उनका व्रत सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। गाँधीजी की रिहाई न करने के कारण जनता और भी विक्षुब्ध हुई।

मई १९४४ में गाँधीजी बीमार पड़े और बीमारी की संगीन अवस्था देखकर सरकार उनकी मृत्यु का उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहती थी। इसलिये उसने गांधीजी को जेल से मुक्त कर दिया। इसके बाद अगस्त १९४४ में लार्ड वावेल भारत के वायसराय होकर आये और उन्होंने सैनिकोचित शीघ्रता से भारतीय समस्या

के समाधान की इच्छा प्रकट की। लाड वावेल ने अपनी शासन परिषद् के अविलम्ब पुनर्गठन की बात उठायी। उन्होंने घोषणा की कि प्रधान सेनापति को छोड़कर अन्य सभी पदों को वे भारतीयों को देने के लिये तैयार हैं और इसके लिये उन्होंने जनता के प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों का सहयोग लेने की इच्छा प्रकट की।

वावेल योजना—

'वावेल योजना' को पहले सभी दलों के लोगों ने स्वीकार किया। कांग्रेस तथा मुसलिम लीग ने भी अपने प्रतिनिधियों को शासन परिषद् के लिये भेजना चाहा और समझौते की वार्ता प्रायः सफल हो चली थी किन्तु अन्त में फिर जिच उत्पन्न हो गयी। योजना के अनुसार सवर्ण हिन्दुओं, अछूतों तथा मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया था और यद्यपि सिद्धान्ततः वायसराय को ही प्रतिनिधियों को स्वीकार करने का अधिकार था किन्तु राजनीतिक दलों को अपना-अपना प्रतिनिधि मनोनीत करने की स्वाधीनता दी गयी थी। मुसलिम सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार मुसलिम लीग को था, किन्तु इस सम्बन्ध में कांग्रेस ने यह मांग की कि अपने हिस्से में से वह किसी मुसलमान को भी अपनी ओर से मनोनीत कर सकती थी। कांग्रेस साम्प्रदायिक संस्था नहीं थी, उसमें हजारों की संख्या में मुसलमान भी थे, अतः उसका यह दावा असंगत नहीं था, फिर भी मुसलिम लीग किसी भी राष्ट्रीय मुसलिम को शासन

परिषद् में देखना नहीं चाहती थी। वास्तविकता यह है कि मुसलिम लीग ने कांग्रेस को सदा हिन्दुओं की ही संस्था माना, मुसलमानों की ओर से उसके बोलने के अधिकार को उसने कभी स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि योजना भंग हो गयी। 'वावेल योजना' के प्रति लोग आकर्षित हुए थे, यद्यपि उसमें अनेक दोष थे। हिन्दुओं और मुसलमानों को समान अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करना सर्वथा अन्यायपूर्ण था। शासन परिषद् के सदस्य भी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं रखे गये थे, उनका उत्तरदायित्व वायसराय के प्रति था, उन्हें स्वीकार करने का भी अधिकार उन्हें ही था और जिस प्रकार परस्पर विरोधी दलों के प्रतिनिधियों को लेकर शासन परिषद् के गठन की योजना थी, व्यवहारतः उसकी सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। किन्तु यहां तो प्रयोग करने का भी अवसर नहीं मिला, मुसलिम लीग की हठधर्मी के कारण योजना अस्वीकृत हो गयी।

साधारण निर्वाचन—

इस प्रकार 'वावेल योजना'-सम्बन्धी शिमला सम्मेलन की वार्ता विफल होते ही लार्ड वावेल ने १९ सितम्बर १९४५ को साधारण निर्वाचन की घोषणा कर दी। इस प्रकार विभिन्न दलों ने विभिन्न सम्प्रदायों अथवा वर्गों के प्रतिनिधित्व का जो दावा किया था, साधारण निर्वाचन के परिणामों के आधार पर

उसकी सत्यता की जाँच का भी अवसर उपस्थित हो गया। कांग्रेस को बहुसंख्यक सीटें मिलीं और सीमा प्रान्त तथा पंजाब को छोड़कर अन्य मुसलिम बहुसंख्यक प्रान्तों में मुसलिम लीग को भी विजय प्राप्त हुई। इन निर्वाचनों के परिणामस्वरूप आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का गठन हुआ, बंगाल और सिन्ध में मुसलिम लीगी मंत्रिमण्डलों की स्थापना हुई और पंजाब में संयुक्त मंत्रिमण्डल का गठन हुआ।

ब्रिटिश शिष्टमण्डल और भारत—

इधर भारत में आम चुनावों के परिणामस्वरूप नयी राजनीतिक रूपरेखा हुई और उधर ब्रिटेन में होनेवाले आम चुनाव के परिणाम भी आश्चर्यजनक हुए। युद्ध विजेता विन्स्टन चर्चिल का अनुदार दल पराजित हुआ और मेजर क्लीमेण्ट एटली के नेतृत्व में विजयी मजदूर दल का मंत्रिमंडल प्रतिष्ठित हुआ। अनेक दृष्टियों से यह असाधारण घटना थी। इसके परिणामस्वरूप भारतीयों को भी अपने राजनीतिक भविष्य की आशा हुई और यह आशा निराधार भी प्रमाणित नहीं हुई। मि० एटली ने पदग्रहण के कुछ ही दिनों पश्चात् ६ दिसम्बर १९४५ को एक शिष्ट मण्डल भारत भेजा। उक्त मण्डल के सदस्यों ने अनेक स्थानों पर दौरा करने तथा उसके आधार पर अपनी रिपोर्ट तैयार करने के बाद पार्लमेण्ट के समक्ष उसे उपस्थित किया। इसके पश्चात् ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने १९ फरवरी १९४६

को एक मंत्रि-प्रतिनिधि-मण्डल को भारत भेजकर भावी रूपरेखा निश्चित करने की घोषणा की। उन्होंने उक्त मिशन की घोषणा करते हुए इस बात को स्पष्टतः कहा कि ब्रिटिश सरकार भारत की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार करती है और वह राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहे या न रहे, यह भी उसी की इच्छा पर निर्भर करेगा। प्रधान मंत्री ने यह भी कहा कि बहुसंख्यक सम्प्रदाय की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं में अल्पसंख्यक सम्प्रदाय सदा के लिये अड़ंगा नहीं लगा सकते। उक्त मंत्रि-प्रतिनिधि-मण्डल के भारत के लिये प्रस्थान करते समय मि० एटली ने एक महत्वपूर्ण वक्तव्य देते हुए कहा कि, "शीघ्रातिशीघ्र भारत पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त कर सके इसके लिये हमारे सहयोगी भारत को अधिकाधिक सहायता प्रदान करने के लिये ही वहां जा रहे हैं। भारत को स्वयं इस बात के निश्चय करने का अधिकार होगा कि वह वर्तमान सरकार के स्थान पर कैसी सरकार का गठन करना चाहता है। भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहना उपयोगी समझेगा, ऐसी हमारी आशा है, किन्तु उसे तत्सम्बधी निर्णय करने का स्वतः अधिकार है, इसके लिये किसी बाहरी दबाव की आवश्यकता नहीं है। शासनसूत्र अधिकाधिक सरलतापूर्वक तथा निर्विघ्न रूप से हस्तान्तरित हो, इस कार्य में हमारे सहयोगी भारत को अधिकाधिक सहयोग प्रदान करने के लिये जा रहे हैं।"

मंत्रि-प्रतिनिधि-मंडल की योजना—

आगे चलकर उन्होंने कहा कि इसी भावना की प्रेरणा से

हमने भारत के दो प्रमुख राजनीतिक दलों के, भारत सम्बन्धी दो विभिन्न लक्ष्यों—भारत की अखण्डता तथा विभाजन के मौलिक प्रश्नों पर समझौता करने की चेष्टा की। किन्तु समझौते के प्रयत्नों के बावजूद भी यह सम्भव न हो सका। अतः उन्होंने स्वयं यथासाध्य सर्वश्रेष्ठ योजना तैयार करने का निश्चय किया, और सम्राट की सरकार की पूर्ण स्वीकृति के साथ उक्त योजना उपस्थित की जा रही है। इस योजना के अनुसार भारत की अन्तिम राजनीतिक रूपरेखा तो भारतीय ही निश्चित करेंगे। किन्तु प्रस्तावित विधान के कार्यान्वित होने के पहले एक अन्तःकालीन सरकार की प्रतिष्ठा की जानी चाहिये। हमने भारत के लिये एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की है जिससे कि बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक दोनों सम्प्रदायों के साथ न्याय होगा। और उसीके द्वारा भारत को अपने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विकाश का सुअवसर प्राप्त होगा। भारत के विभाजन के सम्बन्ध में मुसलमानों की भावना इतनी दृढ़ एवं व्यापक है कि कोरे कागजी संरक्षणों द्वारा आश्वासन नहीं प्रदान किया जा सकता। इसलिये हमने पूर्ण स्वतन्त्र पाकिस्तान राष्ट्र की व्यवस्था पर विचार किया है। इस पाकिस्तान के दो क्षेत्र होंगे, पंजाब, सिन्ध तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त को लेकर ब्रिटिश बलूचिस्तान सहित उत्तर पश्चिम का क्षेत्र तथा बंगाल और आसाम को लेकर उत्तर पूर्व पाकिस्तान। स्वभाग्य निर्णय के अधिकार के अनुसार मुसलमान अपनी

सभ्यता, धर्म एवं आर्थिक हितों का संरक्षण चाहते हैं। किन्तु उक्त पाकिस्तान के लिये प्रस्तावित प्रान्तों की आबादी में मुसलमानों के बहुसंख्यक होने के बावजूद भी गैर मुस्लिम अल्पसंख्यकों की संख्या भी कम नहीं है, जैसा कि निम्न आकड़ों से स्पष्ट है: –

उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र	मुसलमान	गैर-मुसलमान
पंजाब	१,६२,१७,२४२	१,२२,०१,५६७
उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त	२७,८८,७९७	२,४९,२७०
सिन्ध	३२,०८,३२५	१३,२६,६८३
ब्रिटिश बिलोचिस्तान	४, ३८, ९३०	६२, ७०१
	२,२६,५३,२९४	१,३८,४०,२३१
	६२.०७%	३७.९३%
उत्तर पूर्वीय क्षेत्र	३,३०,०५,४३४	२७३,०१,९१
आसाम	३४,४२,४७९	६७,६२,२५४
	३,६४,४७,९१३	३,४०,६३,३४५
	५१.६९%	४८.३१%

शेष ब्रिटिश भारत की १८,८०,००,००० जन-संख्या में फैले हुए मुस्लिम अल्पमत की संख्या प्रायः २ करोड़ है। (१९४१ की जन गणना के आधार पर)।

पाकिस्तान सम्भव नहीं—

उक्त आंकड़ों द्वारा यह स्पष्ट है कि मुसलिम लीग जिस रूप में स्वतंत्र पाकिस्तान राष्ट्र की प्रतिष्ठा चाहती है, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे अल्पसंख्यक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। तो क्या एक छोटा स्वतंत्र पाकिस्तान राष्ट्र सम्भव है? पंजाब और बंगाल जिनको लेकर पाकिस्तान के गठन का लीग दावा करती है, उनकी संस्कृति, भाषा तथा उनके अपने परांम्परागत विभिन्न इतिहास हैं, अतः हमारी सम्मति में उन्हें सम्बद्ध करना संगत नहीं। साथ ही पंजाब के विभाजन से सिख भी विभाजित हो जायेंगे। इन सारे तथ्यों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि मुसलिम लीग द्वारा प्रस्तावित पाकिस्तान के निर्माण से साम्प्रदायिक समस्या का समुचित समाधान सम्भव नहीं।

आगे चलकर प्रधान मंत्री ने कहा कि यद्यपि मुसलिम लीग द्वारा प्रस्तावित पाकिस्तान सम्भव नहीं है, फिर भी अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं अधिकारों के रक्षार्थ मुसलिम सम्प्रदाय की जो भावना है और हिन्दुओं के प्राधान्य के कारण मुसलमानों को उक्त विषयों को लेकर खतरों की जो आशंकाएँ हैं, उनके निराकरण का भी उपाय निकालना होगा। साथ ही देशी रियासतों की भी समस्या है। रियासतों को ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति के साथ पूर्ण स्वतंत्रता होगी कि वे स्वयं शेष भारत के साथ पारस्परिक परामर्श द्वारा अपने भविष्य का निश्चय करें।

ब्रिटिश सरकार का प्रस्ताव—

उक्त सारी स्थितियों के विश्लेषण के पश्चात् सम्राट की सरकार ने वह योजना उपस्थित की जिसके लिये उसका दावा था कि वह सभी दलों की मूल-भूत माँगों के अनुसार न्याय के आधार पर प्रस्तुत की गयी थी। उक्त योजना १६ मई १९४६ को पेश की गयी। उक्त योजना में एक अखिल भारतीय संयुक्त राष्ट्र के आधार पर भारत तथा देशी राज्यों के सम्मिलित संघ की व्यवस्था की गयी। वैदेशिक विभाग, रक्षा तथा यातायात संघ के विषय रखे गये और अन्यान्य विषयों को प्रान्तों को सौंप देने की बात कही गयी। प्रान्तों को अपना उप-संघ बनाने का भी अधिकार दिया गया जिसे वे अपने हिताहित का ध्यान रखते हुए स्वेच्छापूर्वक कर सकते थे। ऐसे उप-संघों को भी अपनी व्यवस्थापिका तथा शासन परिषद् बनाने का अधिकार दिया गया। मंत्रि-प्रतिनिधि-मंडल की योजना बहुत विस्तृत थी, परन्तु उसके मूलभूत सिद्धान्त यही थे। भावी शासन विधान के निर्माण के लिये एक विधान परिषद् की व्यवस्था की गयी और उक्त परिषद् द्वारा नये विधान के निर्माण तथा उसे कार्यान्वित होने के पूर्व एक राष्ट्रीय सरकार की व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया जिसमें सभी मान्य दलों के प्रतिनिधि हों। प्रस्तावित योजना की अनेक व्यवस्थाएँ आपत्तिजनक एवं अहितकर थीं। प्रान्तों के लिये उप-संघ की व्यवस्था द्वारा प्रकारान्तर से पाकिस्तान निर्माण का समर्थन करना था। मुद्रा, विनिमय, आयात-

निर्यात, बीमा, बैंक, कर, विद्युत आदि अनेक आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में भारत संघ को पूर्ण अधिकार न देना संघ को सर्वथा निर्बल बना देना था। संघ शासन के मूलभूत सिद्धान्त की भी अवहेलना थी। कहीं भी संघ के अन्तर्गत उपसंघ की व्यवस्था विधान सम्मत नहीं मानी गयी, किन्तु यहां तो स्थिति ही भिन्न थी। लीग पाकिस्तान की मांग पर अटल थी और शेष सम्प्रदाय और समस्त भारत उसे अव्यवहारिक एवं हानिकर समझते थे; अतः पाकिस्तान का विरोध भी किया गया और उपसंघों के रूप में उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न भी। और भी अनेक बातें अव्यवहारिक, असंगत एवं अहितकर थीं फिर भी राजनीतिक दलों ने उसके द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रीय सरकार के गठन का समर्थन किया। किन्तु गठन की प्रणाली पर पुनः मतभेद उत्पन्न हो गया, अपने लिये निर्धारित संख्या के भीतर कांग्रेस ने राष्ट्रवादी मुसलमान को भी शासन परिषद में रखने की मांग की, जिसे लीग ने अस्वीकार कर दिया। वह समस्त मुसलिम सीटों को अपने ही मनोनीत सदस्यों को देना चाहती साथ ही लीग से पृथक किसी भी अन्य मुसलमान को वह कांग्रेस सीट से भी सरकार में सम्मिलित नहीं होने देना चाहती थी। अतः कांग्रेस ने राष्ट्रीय सरकार के गठन से असहयोग कर लिया। लीग अब स्वयं सरकार का गठन करना चाहती थी किन्तु लार्ड वावेल ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। अतः लीग असन्तुष्ट हो गयी और उसने भी असहयोग नीति अपनायी। अब वावेल ने पुनः

कांग्रेस को आमंत्रित किया। इसके अनुसार १९४६ के सितम्बर में कांग्रेस ने राष्ट्रीय सरकार का गठन कर लिया।

मुसलिम लीग असन्तुष्ट तो थी ही. अब वह विक्षुब्ध हो उठी। उसने सारे देश में साम्प्रदायिकता का विषाक्त प्रचार किया और इसके परिणाम स्वरूप देश के अनेक अंचलों में भयंकर साम्प्रदायिक उपद्रव एवं भीषण रक्तपात के काण्ड हुए।

किन्तु फिर भी विधान-निर्माण के कार्य का परित्याग नहीं किया जासकता था। विधान परिषद द्वारा विधान-निर्माण के लिये विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न जटिल था, उसे हल करने के लिये १० लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि के चुनाव की व्यवस्था की गयी क्योंकि बालिग मताधिकार द्वारा प्रतिनिधि निर्वाचन का कार्य इतनी शीघ्रता में सम्भव नहीं था। आम चुनाव द्वारा निर्वाचित प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों को ही विधान परिषद् के लिये सदस्य निर्वाचित करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था। देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व की भी व्यवस्था की गयी। प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि पहले एकत्र होंगे और इसके पश्चात् वे अ ब स तीन दलों में विभक्त होकर विधान निर्माण का कार्य अग्रसर करेंगे। प्रान्तों को विभिन्न समूहों में विभाजित कर दिया गया था और उक्त अ ब स के समूहगत प्रतिनिधि अपने-अपने समूह के लिये विधान-व्यवस्था का निर्माण करके पुनः देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर संयुक्त राष्ट्र भारत के संघ विधान का

निर्माण करेंगे। साधारण (हिन्दू), मुसलमान और सिख—यही तीन सम्प्रदाय प्रमुख माने गये। अतः इन्हीं के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी। यह व्यवस्था निम्न प्रकार की रखी गयी—

अ—विभाग

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	योग
मद्रास	४५	४	४९
बम्बई	१९	२	२१
युक्त प्रान्त	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रान्त	१६	१	१७
उड़ीसा	६	०	६
	१६७	२०	१८७

ब—विभाग

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
उत्तरपश्चिमी सीमाप्रान्त	०	३	०	३
सिन्ध	१	३	०	४
	९	२२	४	३५

स—विभाग

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

ब्रिटिश भारत का पूर्ण योग	२९२
देशी रियासतों की अधिक-से-अधिक संख्या	९३
सम्पूर्ण योग	३८५

भारत विभाजन की घोषणा—

उक्त विधान परिषद् का प्रथम अधिवेशन ९ दिसम्बर १९४६ को प्रारम्भ हुआ। २९ अगस्त १९४७ ई० को मसविदा समिति गठित हुई। उक्त समिति ने भावी विधान की पूर्ण रूपरेखा का निर्माण कर लिया। इस कार्य में उसे १४१ दिन लगे. यथेष्ट विचार विमर्श, वादविवाद एवं संशोधनों के पश्चात् नये शासन विधान का स्वरूप निश्चित हुआ।

किन्तु मुस्लिम लीग की मनोवृत्ति के सम्बन्ध में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके अनुसार उसने उक्त विधान सभा के साथ असहयोग किया। और उसने पाकिस्तान के लिये एक नये विधान परिषद् का गठन किया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख आवश्यक है कि फरवरी १९४७ ई० में ब्रिटिश प्रधान मंत्री मेजर

एटली ने पार्लमेण्ट में यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार अधिक से अधिक जून १९४८ तक सम्पूर्ण शासन सत्ता उत्तरदायी भारतीयों को हस्तान्तरित कर देगी। उन्होंने यह भी कहा कि यदि निश्चित अवधि तक विधान परिषद् ने विधान निर्माण का कार्य समाप्त नहीं कर दिया तो ब्रिटिश सरकार स्वयं निश्चय करेगी कि शासन सत्ता किसी केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा अन्य किसी भी प्रतिनिधिमूलक सत्ता को हस्तान्तरित कर दी जाय। यह भी स्पष्ट किया गया कि उक्त विधान परिषद् द्वारा निर्मित विधान को स्वीकार करने के लिये किसी प्रान्त, अथवा प्रान्त के भाग को बाध्य नहीं किया जासकता। किसी भी प्रान्त अथवा प्रान्त के भाग को संबबद्ध होने के लिये भी अनिच्छापूर्वक बाध्य नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में लार्ड माउन्टबेटेन ने लन्दन जाकर और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों से बातचीत कर भारतीय नेताओं से स्वयं विचार विमर्श किया। और इसके फलस्वरूप ३ जून को उन्होंने एक घोषणा की, जिसके अनुसार भारत दो भागों में विभक्त हो गया। उक्त घोषणा में लार्ड माउन्टबेटेन ने कहा कि, 'सम्राट की सरकार वर्तमान अधिवेशन में ही औपनिवेशिक पद के आधार पर एक या दो उत्तराधिकारी सत्ताओं को इसी वर्ष सम्पूर्ण सत्ता हस्तान्तरित कर देने के लिये आवश्यक विधान व्यवस्था उपस्थित करेगी।" कांग्रेस की ओर से पंडित जवाहरलालजी नेहरू ने उसी दिन उक्त घोषणा से सहमति प्रगट करते हुए एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने कहा

कि, "उक्त घोषणा द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का मार्ग अत्यन्त प्रशस्त हो जाता है।"

इस प्रकार भारत के विभाजन की बात निश्चित हो गयी और पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली गयी। इसी के अनुसार दो राष्ट्रों के लिये दो पृथक् विधान परिषदों ने विधान निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया। मुसलिम लीग ने पहले से भारतीय विधान परिषद् का बहिष्कार कर रखा था, अब उसने स्वयं अपनी विधान परिषद् द्वारा विधान निर्माण का कार्य हाथ में लिया।

१९४७ के भारतीय स्वाधीनता कानून का उल्लेख करने के पूर्व कतिपय राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख प्रसंगवशात् आवश्यक है। १६ जून १९४६ को मंत्रि प्रतिनिधिमण्डल ने जो योजना उपस्थित की थी उसके दीर्घकालीन अंश को, उसके आपत्तिजनक होते हुए भी, सभी दलों ने स्वीकार किया था, किन्तु उसके अल्पकालीन भाग - राष्ट्रीय सरकार के गठन के प्रश्न पर कांग्रेस तथा मुसलिम लीग में मतभेद हुआ जिसका उल्लेख किया जाचुका है। ब्रिटिश सरकार की भारत-सम्बन्धी घोषणाओं पर मुसलिम लीग प्रायः यह किया करती थी कि वह कांग्रेस के मन्तव्य की प्रतीक्षा करती थी। कांग्रेस ने यदि उसे स्वीकार किया तो प्रायः यह समझा जाता था कि लीग उसे अस्वीकार करदेगी। इस बार भी प्रायः ऐसा ही हुआ। कांग्रेस का रुख थोड़ा कठोर देखते ही मि० जिन्ना ने उसपर अपनी स्वीकृति देदी और उन्हें आशा थी कि लार्ड वावेल उन्हें अन्तः-

कालीन सरकार गठित करने के लिये आमंत्रित करेंगे, किन्तु वावेल जानते थे कि कांग्रेस के सहयोग के बिना सफलता नहीं मिल सकती, अतः उन्होंने लीग के नेता को आमंत्रित नहीं किया। मि० जिन्ना इसपर विक्षुब्ध हो उठे और उन्होंने २६ जूलाई १६४६ को लीग द्वारा उसे अस्वीकार करा दिया। अगस्त १६४६ में कांग्रेस दल के नेता की हैसियत से नेहरूजी ने सरकार का गठन किया, किन्तु सम्भवतः वावेल इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हो सके अतः उनके आन्तरिक प्रयास से पुनः लीग को सरकार में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित किया गया। अक्टूबर १६४६ के अन्तिम सप्ताह में कांग्रेस ने अपने तीन प्रतिनिधियों को वापस लेकर लीग के तीन प्रतिनिधियों के लिये स्थानरिक्त कर दिया। इन तीन स्थानों पर लीग के प्रतिनिधि दो और प्रतिनिधियों के साथ राष्ट्रीय सरकार में सम्मिलित हो गये। किन्तु यह व्यवस्था भी अन्त में विफल हो गयी।

कहा जा चुका है कि लीग ने भारतीय विधानपरिषद् में भाग लेने से इन्कार कर दिया था। इस विषय में भी ब्रिटिश सरकार की अनावश्यक व्यग्रता के कारण ही समस्या जटिलतर हो गयी। ६ दिसम्बर १६४६ को प्रधान मंत्री मेजर एटली ने सरकार द्वारा प्रस्तावित विधान निर्माण-सम्बन्धी व्यवस्था की व्याख्या करते हुए कहा कि भारतीय विधान परिषद् के निर्णयों को किसी अनिच्छुक सम्प्रदाय या भाग पर लादा नहीं जासकता। इससे लीगियों को प्रोत्साहन मिला और उन्होंने इसका अनुचित लाभ उठाया।

पाकिस्तान सम्भव—

मेजर एटली ने २० फरवरी १९४६ को पुनः घोषणा की और सत्ता हस्तान्तरित करने के लिये जून १९४८ तक की अवधि निर्धारित की। लार्ड वावेल लीग के प्रति अपने पक्षपातों के कारण लोकमत की कटु आलोचना के पात्र हो चले थे। यह भी भय था कि यह आलोचना विरोध का रूप न पकड़ ले, अतः उसी घोषणा में उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटेन की नियुक्ति का भी उल्लेख किया गया और उन्होंने ही भारतीय साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान के लिये भारत के विभाजन की योजना रखी। इस योजना का प्रवल विरोध किया गया, किन्तु स्वाधीनता के मार्ग में लीग जिस प्रकार रोड़े अँटकाती रही है, उसे देखते हुए कांग्रेस को वाध्य होकर भारत-विभाजन को भी स्वाधीनता के हेतु स्वीकार करना पड़ा। मुस-लिम लीग ने ९ जून को तथा कांग्रेस ने १४ जून १९४७ को उक्त योजना पर स्वीकृति दी। दोनों दलों के नेताओं ने इसके पूर्व ही अपनी स्वीकृति देदी थी। इसके बाद प्रान्तीय व्यवस्था-पिकाओं को तत्सम्बन्धी निर्णय करना था। २० जून को बंगाल तथा २३ जून को पंजाब ने बहुमत द्वारा पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निश्चय किया। सिन्ध तथा बिलोचिस्तान ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया।

इस प्रकार पाकिस्तान जो एक काल्पनिक स्वप्न था, अब

चरितार्थ होकर रहा। देशभर में क्षोभ व्याप्त होगया। भारत के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। बंगाल तथा पंजाब के गैर-मुस्लिम सम्प्रदायों की स्थिति अत्यन्त भयावह हो उठी। साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिये और बिना रक्तपात के स्वाधीनता प्राप्ति के लिये पाकिस्तान स्वीकार किया गया, किन्तु वास्तव में वे दोनों ही उद्देश्य सफल नहीं हुए। पंजाब, बंगाल, सीमाप्रान्त, सिन्ध तथा बम्बई और बिहार में भीषण रक्तपात हुआ और पाकिस्तान का निर्माण जबसे हुआ है तबसे भारत के साथ पहले से भी अधिक मतभेद बढ़ता गया है और समय एवं परिस्थितियां चाहे जो कराएँ, अभी तो दोनों में पारस्परिक सद्भावना के स्थायी लक्षण नहीं प्रकट हो रहे हैं। समस्या के तात्कालिक समाधान की व्यग्रता एवं आतुरता से समस्या ने और भी स्थायी एवं घातक स्वरूप पकड़ लिया।

छठाँ अध्याय

औपनिवेशिक स्वराज्य : घोषणा और कार्य

१९४७ के भारतीय स्वाधीनता कानून द्वारा भारत को औप-निवेशिक पद प्रदान किया गया। किन्तु इसके पूर्व की ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत की वैधानिक स्थिति अनोखी और अस्थिर थी। भारतीयों के असन्तोष के निराकरण के लिये ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा सदा ही भारत की राजनीतिक महत्वा-कांक्षाओं की पूर्ति के आश्वासन दिये जाते रहे, किन्तु घोषणाओं तथा कार्यगत तथ्यों में सदा ही बड़ा अन्तर रहा। राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक विद्यार्थियों द्वारा यह स्थिति समीक्षा का विषय रही है। ब्रिटिश सरकार ने जब कभी अच्छे शब्दों में कोई घोषणा की तभी साम्राज्यवादियों तथा उनके समर्थकों ने उसका एक नया प्रतिक्रियावादी विश्लेषण उपस्थित कर दिया और प्रगति का मार्ग अवरुद्ध होता चला गया। ईस्टइण्डिया कम्पनी के १८३३ के चार्टर-घोषणापत्र की धारा ८७ में स्पष्ट उल्लेख था कि, "धर्म, जन्मभूमि उत्पत्ति अथवा वर्ण के आधार पर ही किसी भी भारतीय को कम्पनी के अधीनस्थ किसी भी पद अथवा नौकरी के लिये अयोग्य नहीं समझा जायगा।" और लार्ड मेकाले ने उक्त घोषणा के समय कहा था कि, "सम्भव है कि

हमारी शासनप्रणाली के अन्तर्गत भारतीय जनता इतनी विकसित हो जाय कि वह हमारी प्रणाली से भी अधिक अग्रसर हो जाय और यूरोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रकाश में आकर भविष्य में यूरोपीय शासनप्रणाली की मांग करे। मैं नहीं कह सकता कि वह दिन कब आयेगा, किन्तु मैं उस दिन के आगमन का विरोध करने अथवा उसमें बाधा डालने का प्रयत्न कभी नहीं करूँगा।"

उक्त घोषणापत्र की उस धारा तथा लार्ड मेकाले की उदात्त घोषणा की पूर्ति कहांतक हुई, इसका निर्णय एक दूसरे अँगरेज जान ब्राइट के मुख से सुनिये। १८५३ के चार्टर के प्रसंग में पार्लमेण्ट में होनेवाले विवाद के अवसर पर ६ जून १८५३ को ब्राइट ने कहा, "१८३३ के घोषणापत्र से भारतीय सभी पदों और नौकरियों के योग्य घोषित कर दिये गये थे, किन्तु पिछले २० वर्षों में एक भी भारतीय किसी भी ऐसे पद पर नहीं पहुंच सका, जिसपर वह उक्त घोषणापत्र के पहले नहीं पहुंच सकता था।"

१५ मार्च १९२१ को वायसराय को दिये गये आदेशपत्र में घोषणा की गयी थी, "ब्रिटिश पार्लमेण्ट की यह इच्छा है कि भारत में उत्तरोत्तर ऐसी शासनपद्धति का विकास किया जाय कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य उपनिवेशों के पदों एवं अधिकारों के समान ही अपने पद एवं अधिकार का उपयोग कर सके।" और इससे भी स्पष्ट घोषणा ९ फरवरी १९२१ को कनाट के ड्यूक ने की, जब उन्होंने कहा कि, "वर्षों से, बल्कि पीढ़ियों से, देशभक्त और राजभक्त भारतीय अपनी मातृभूमि के

लिये स्वराज्य का स्वप्न देख रहे हैं और आज हमारे साम्राज्य के अन्तर्गत इस स्वराज्य का प्रारम्भ हो रहा है, और इसके अनुसार उन्हें सबसे विस्तृत एवं यथेष्ठ सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं जिनके द्वारा वे अन्य उपनिवेशों के समान ही अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे।"

मि० विन्स्टन चर्चिल भारत के सदा से विरोधी रहे हैं, किन्तु उन्होंने भी १९२१ में साम्राज्य परिषद् में कहा "हमारे कार्यों और सम्मेलनों में भारत एक भागीदार की भांति आ रहा है। हम भारत के ऋणी हैं और हम विश्वास के साथ उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब भारत सरकार और भारतीय जनता पूर्ण औपनिवेशिक पद प्राप्त करेंगे।"

नेहरू रिपोर्ट के पहले तक और उसके द्वारा भी औपनिवेशिक स्वराज्य ही भारत की मांग रही है और ब्रिटिश सरकार द्वारा उसकी इतनी बार घोषणाएँ हुईं, अतः उनकी पूर्ति हुई होती तो ब्रिटेन के प्रति भारत की जैसी भावना उत्तरोत्तर होती गयी, वह न हुई होती और दोनों देशों का सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक सद्भावनापूर्ण हुआ होता, किन्तु औपनिवेशिक स्वराज्यसम्बन्धी ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं का कहांतक पालन किया गया, इसपर प्रख्यात विधानवेत्ता डा० बेरीडेल कीथ ने अपना मत देते हुए लिखा है कि, "स्वायत्त शासन प्रणाली तथा औपनिवेशिक पद — इन दोनों में अन्तर निकालने का आजकल फैशन चल पड़ा है। कहा जाता है कि स्वायत्त शासन प्रणाली के अन्तर्गत केवल आन्तरिक

मामलों में स्वाधीनता रहती है, वैदेशिक मामलों में नहीं। वैदेशिक मामलों का प्रश्न बाद को उठा और १६१७ की घोषणा करनेवालों के दृष्टिकोण में यह बात नहीं थी। किन्तु यह मत मान्य नहीं हो सकता। १६१७ ई० की घोषणा तक किसी भी प्रसंग में स्वायत्त शासन प्रणाली और औपनिवेशिक पद में किसी प्रकार के भेद की बात नहीं कही गयी। 'औपनिवेशिक पद' शब्द का उन दिनों प्रयोग नहीं किया जाता था, किन्तु उपनिवेशों में स्थापित शासन पद्धति विशेष से ही उसका तात्पर्य समझा जाता था, और यह शासन पद्धति स्वायत्त शासन का उपयोग करनेवाले उन उपनिवेशों में स्थापित हुई जिन्होंने १६०७ में अपने औपनिवेशिक सम्मेलन में औपनिवेशिक पद की संज्ञा की घोषणा की। १६१६ ई० में जब ब्रिटेन ने राष्ट्र संघ की सदस्यता के लिये उपनिवेशों के अधिकार की मांग की तब उसने भारत की भी सदस्यता की मांग की और बचन देनेवालों की सचाई का बचन देनेवालों के कार्यों से बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है? इन तथ्यों के होते हुए १६१७ की घोषणा के वास्तविक अर्थ में कोई सन्देह नहीं रह जाता।"

इस प्रकार डा० कीथ के अनुसार १६१७ की सरकारी घोषणा का अर्थ भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य था। किन्तु क्या ऐसा हुआ? १६१६ का शासन विधान क्या इसका साक्षी है? लार्ड रीडिंग (१६२४) की शासन परिषद के गृह सचिव सर मैलकम हेली ने 'स्वायत्त शासन' तथा 'औपनिवेशिक पद' में जमीन

आसमान का अन्तर बताया। इस बातको लेकर भारी मतभेद उठ खड़ा हुआ। और ब्रिटिश सरकार को बार-बार इसका स्पष्टीकरण करना पड़ा। २ जुलाई १९२८ को तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री रामजे मैकडोनल्ड ने वक्तव्य देते हुए कहा :—

"मैं आशा करता हूं कि कुछ वर्षों में नहीं, बल्कि कुछ महीनों में ही राष्ट्रमण्डल के साथ एक और 'उपनिवेश' संयुक्त हो जायगा। यह भिन्न जाति का उपनिवेश होगा और इसे साम्राज्यान्तर्गत रहते हुए आत्म-सम्मान प्राप्त होगा। मैं भारत के प्रसंग में कह रहा हूं।"

प्रथम गोलमेज परिषद् की समाप्ति के अवसर पर भी उन्हीं प्रधान मंत्री द्वारा घोषणा की गयी थी कि :—

"मुझे विश्वास है, और मेरी प्रार्थना है कि हमारे और आपके पारस्परिक प्रयास के फल-स्वरूप भारत अपना अभीप्सित पद—औपनिवेशिक स्वराज्य एवं तद्विषयक स्वायत्त शासनप्रणाली, उत्तरदायित्व, कठिनाइयां एवं गौरव तथा सम्मान प्राप्त करेगा।"

३१ अक्टूबर १९३१ को तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन ने घोषणा करते हुए इस आश्वासन को दुहराया था कि—"सम्राट की सरकार की ओर से बार-बार यह घोषणाएँ की गयी हैं कि समयानुसार भारत साम्राज्यान्तर्गत अन्य उपनिवेशों के साथ समानाधिकार, पद एवं अधिकार के साथ भागीदार के रूप में अपना स्थान ग्रहण करेगा। मैं यह भी साधिकार घोषणा करता हूं कि १९१९ के शासन विधान में सन्निहित १९१७ की

घोषणा का अर्थ भारत के लिये स्वाभाविक रूप में विकसित औपनिवेशिक पद है।"

इन घोषणाओं के पश्चात् अब वास्तविक स्थिति देखिये। कुछ ही महीनों में नहीं, कुछ ही वर्षों में भी भारत औपनिवेशिक पद प्राप्त नहीं कर सका। १९३५ के शासन विधान में जानबूझकर उक्त शब्द का प्रयोग तक नहीं किया गया। पूर्ण सतर्कता रखी गयी कि भूलकर भी उसका प्रयोग नहीं हो। इस स्थिति की कटु आलोचना करते हुए मजदूरदल के प्रमुख नेता जार्ज लेन्सबरी ने, संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट पर पार्लमेण्ट में होनेवाले विवाद के सिलसिले में कहा था कि :—

"मैं हाउस आव कामन्स को भारत के सम्बन्ध में चुनौती देता हूं। तुमने वायसराय, युवराज और कनाट के ड्यूक को भारत में इस सन्देश के साथ भेजा कि उसे स्वराज्य मिल जायगा, तुमने वादा किया कि उसे स्वायत्त शासन का अधिकार दे दिया जायगा। किन्तु तुम्हारे वर्तमान प्रस्तावों का तो यह उद्देश्य नहीं है, इनसे भारतीयों को अपने देश के शासन का अधिकार नहीं मिलता। भारत के ३५ करोड़ निवासियों को तुमसे यह जानने का अधिकार है कि तुम उन्हें अपना शासन करने का अधिकार देना चाहते हो या नहीं?"

और ब्रिटेन उत्तर नहीं दे सकता था। १९३५ के शासन विधान में इसका उत्तर नहीं था, लैन्सबरी की चुनौती का सम्राट की सरकार के पास कोई उत्तर नहीं था। भारतीय वैधानिक

सुधार के लिये गठित संयुक्त समिति की रिपोर्ट में जो सुझाव (पृष्ठ ६८) दिये गये थे, उनकी तर्कशैली से ही स्पष्ट हो जाता था कि ब्रिटेन शनैः शनैः, भारतीयों को योग्यता विकसित होने के साथ-साथ, थोड़े-थोड़े शासन-सम्बन्धी अधिकार देना चाहता था। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिण अफ्रीका के पद के योग्य वह भारत को नहीं समझता था।

तो औपनिवेशिक पद—अथवा स्वराज्य—का अर्थ क्या है जिसे भारत को प्रदान करने में ब्रिटेन संकुचित था? लार्ड बोनर ला ने १९१७ में औपनिवेशिक पद एवं तत्सम्बन्धी उत्तर-दायित्वों एवं अधिकारों की व्याख्या की थी। उन्होंने कहा था: —

"औपनिवेशिक पद की मूलभित्ति क्या है?—मूलभित्ति यह है कि उपनिवेशों को स्व-भाग्य निर्णय का अधिकार हो। अपनी सेना पर उनका पूर्ण प्रभुत्व हो और साम्राज्य की रक्षा के लिये वे चाहे उसका उपयोग करें या न करें। यदि कनाडा और आस्ट्रेलिया के उपनिवेश कल साम्राज्य से पृथक होकर अपना सम्बन्ध विच्छेद करना चाहें तो उन्हें बलात् साम्राज्यान्तर्गत रखने के लिये बाध्य नहीं किया जासकता।"

१९२६ में होनेवाली साम्राज्य परिषद की अन्तर-साम्राज्य समिति ने उपनिवेशों की स्थिति एवं साम्राज्य के साथ उनके सम्बन्ध एवं उत्तरदायित्वों के विषय में यह निष्कर्ष घोषित किया था :—

"उपनिवेश साम्राज्यान्तर्गत स्वतंत्र देश हैं। वे अपने

आन्तरिक अथवा वैदेशिक मामलों में एक दूसरे के आश्रित नहीं। वे जब चाहें साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं—ऐसा करने की उन्हें पूर्ण स्वाधीनता है।"

इस स्थिति में ब्रिटेन भारत के लिये उक्त पद की घोषणा तो करता था, किन्तु वह पद उसे वह देना नहीं चाहता था।

और देना इसलिये नहीं चाहता था कि १९२१, २३ और २६ की साम्राज्य परिषदों में औपनिवेशिक पद की मर्यादा और अधिकारों का जो विश्लेषण किया गया और उनके आधार पर १९३० में होनेवाली उक्त परिषद ने जो निर्णय किये, उनके अनुसार उपनिवेशों की प्रायः पूर्ण स्वतंत्र देशों की-सी स्थिति हो गयी। १९३१ के प्रख्यात वेस्टमिनिस्टर स्टेट्यूट (विधान) में उक्त स्थिति के आधार पर विधानव्यवस्था कर दी गयी। भारत उक्त विधान के अन्तर्गत आता है या नहीं, यह उन दिनों का अत्यन्त विवादग्रस्त विषय हो चला था, किन्तु ब्रिटेन अनेक घोषणाओं के पश्चात् भी भारत को औपनिवेशिक पद स्वेच्छापूर्वक कभी प्रदान नहीं करना चाहता था। भारत की स्वाधीनता में उसे अपने पूर्वी साम्राज्यवादी स्वार्थों के लिये सदा ही खतरा दिखायी पड़ता था और ब्रिटेन न तो अपने साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहता था, न भारत की स्वाधीनता ही उसे अभीष्ट थी। अनेक बार ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिये भारत की महिमा बतायी थी और न केवल राजनीतिक, बल्कि आर्थिक हितों की सुरक्षा की दृष्टि से भी उसे भारत की स्वाधीनता अभीष्ट नहीं थी। अन्तर्रा-

ष्ट्रीय मामलों में अनेक वार ब्रिटेन की वैदेशिक नीति का संचालन इसी दृष्टिकोण से हुआ है। ईस्टइण्डिया कम्पनी के समय से लेकर १६४७ के भारतीय स्वाधीनता कानून के समय तक भारत के सम्बन्ध में ब्रिटेन की यही मनोवृत्ति और यही नीति बनी रही। अँगरेज राजनीतिज्ञ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड ने ठीक ही लिखा था—"भारत के सम्बन्ध में ईस्टइण्डिया कम्पनी के अन्त से लेकर अबतक वही स्थिति बनी हुई है—भारत अब भी लन्दन शहर का एक अंचल बना हुआ है।"

सातवाँ अध्याय

भारतीय स्वाधीनता का कानून

लार्ड माउण्टबेटेन ने जो योजना उपस्थित की थी और जिस पर कांग्रेस तथा लीग दोनों की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी, उसे कानूनी स्वरूप एवं मान्यता प्रदान करने के लिये ब्रिटिश पार्लमेण्ट में 'भारतीय स्वाधीनता कानून' के नाम से एक विधेयक उपस्थित किया गया। भारत के वैधानिक इतिहास में उक्त कानून का सर्वाधिक महत्व है। उक्त कानून में मात्र २० धाराएँ हैं, किन्तु उन्हीं २० धाराओं में ४० करोड़ नागरिकों के भाग्य का निर्णय कर दिया गया है। इसके द्वारा भारत दो स्वतंत्र उपनिवेशों में विभक्त हो गया। उक्त कानून की प्रथम धारा द्वारा निश्चित कर दिया गया कि १५ अगस्त १९४७ को भारत में भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वाधीन उपनिवेश बन जायेंगे। दूसरी धारा में पाकिस्तान के अन्तर्गत पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बलूचिस्तान के रखने की व्यवस्था की गयी और सीमाप्रान्त को तद्विषयक स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दिया गया। तीसरी और चौथी धाराओं द्वारा बंगाल और पंजाब प्रान्तों के विघटन एवं नये प्रान्तों के रूप में उनके पुनर्गठन का उल्लेख है। पांचवीं धारा के अनुसार उक्त दोनों राज्यों के लिये पृथक

पृथक गवर्नर जेनरलों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। छठीं धारा के अनुसार पूर्ण स्वतंत्र व्यवस्थापिका परिषदों का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि उनके द्वारा निर्मित किसी भी व्यवस्था को इस आधार पर अवैध नहीं ठहराया जासकता कि वह ब्रिटिश पार्लमेण्ट की किसी भी व्यवस्था से असंगत है। उक्त परिषदों को पार्लमेण्ट द्वारा निर्मित व्यवस्थाओं को रद्द करने का भी अधिकार प्रदान किया गया। सातवीं धारा द्वारा ब्रिटिश सरकार ने उन प्रदेशों के शासनसम्बन्धी उत्तरदायित्वों से अपनेको मुक्त कर लिया जो उसके शासनाधीन थे। इसी धारा के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के साथ भी अपना समस्त सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इसीके अनुसार ब्रिटेन के शासक की 'भारत सम्राट' की पदवी भी हटा दी गयी। आठवींधारा के अनुसार विधान परिषदों द्वारा विधान प्रस्तुत होने के पूर्व १९३५ के भारतीय शासनविधान की धाराओं के अनुसार कार्य करने का अधिकार प्रदान किया गया। इस प्रकार भारतीय स्वाधीनता कानून के अनुसार जिन दो राज्यों का गठन हुआ उनकी विधानपरिषदों ने दो रूपों में काम करना शुरू किया। व्यवस्थापिका परिषद् के रूप में और विधान निर्माण के लिये विधान परिषद् के रूप में। १५ अगस्त १९४७ से २६ जनवरी १९५० तक उक्त व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य होता रहा। इस बीच में विधानपरिषद् ने नया संविधान निर्मित किया और २६ जनवरी १९५० को इसे कार्यान्वित किया गया। इसीके अनुसार भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया।

आठवाँ अध्याय

भारतीय संविधान सभा

राष्ट्र की सर्वोत्तम विधान-व्यवस्था के सम्बन्ध में अब्राहम लिङ्कन ने १६ नवम्बर १८६३ को, गृहयुद्ध में प्राणोत्सर्ग करनेवाले शहीदों के स्मारक निर्माण के प्रसंग में कुछ ऐसे शब्दों का उच्चारण किया था, जिन्हें बाद को ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हो गया। लिङ्कन ने आदर्श विधान-व्यवस्था बताते हुए कहा था, "जनता के लिये, जनता द्वारा, जनता का शासन।" जनता अपने लिये, अपने द्वारा ही, अपने शासन विधान की व्यवस्था करे, यही वास्तविक गणराज्य है।

और जब कभी, किसी भी देश में शासनसत्ता ने निरंकुशताओं का परिचय दिया और जनता त्रस्त हुई, तभी उसने अपनी संगठित शक्ति द्वारा शासकों को अपने अधिकारों के लिये विवश किया है। इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम (१६४९) को जनता के असन्तोष ने ही फाँसी के तख्ते पर लटका दिया। क्रामवेल के अनुयायियों ने जनप्रतिनिधि परिषद् द्वारा शासन व्यवस्थाओं का निर्माण कर जनता को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया था। फिलाडेल्फिया (अमेरिका) की विधान-निर्मात्री प्रतिनिधि परिषद् का उल्लेख विश्व के वैधानिक इतिहास के एक सुनहरे अध्याय का

उल्लेख है। फ़ान्स की राज्यक्रान्ति के पश्चात् फ़ान्सीसी विधान परिषद ने ही संसार को समानता, स्वाधीनता एवं बन्धुत्व के आदर्श का सन्देश दिया। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों ने भी विधान परिषदों द्वारा, स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार के आधार पर, अपने लिये विधान-व्यवस्थाएँ कीं। १८९१ ई० में 'नेशनल आस्ट्रेलियन कन्वेन्शन' सिडनी में हुआ था, जिसमें आस्ट्रेलिया के ४५ प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और उसी प्रतिनिधि परिषद् द्वारा स्वीकृत विधान व्यवस्था को तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेश सचिव चेम्बरलेन ने सम्राट की सरकार की ओर से स्वीकार किया था। दक्षिण अफ्रिका ने भी १९०८ ई० में ऐसा ही किया और उसकी प्रतिनिधि-परिषद् द्वारा स्वीकृत विधान व्यवस्था को इंग्लैंड ने १९०९ ई० में स्वीकार किया। वर्तमान स्वतंत्र आयर्लैण्ड के विधान का निर्माण भी इसी प्रकार हुआ और उसी विधान के आधार पर ब्रिटेन को उसके साथ सन्धि करनी पड़ी। प्रथम महासमर (१९१४-१८) के दिनों में पराजित जर्मनी के सम्राट कैसर के पलायन के पश्चात् वहां की जनता ने विधान परिषद् द्वारा नवीन शासनविधान की रचना की थी।

इस प्रकार यूरोप तथा अमेरिका ने विधानपरिषद् द्वारा विधान निर्माण की दिशा में सफल प्रयोग किये हैं। शासन सत्ता जब सर्वथा निरंकुश हो जाय और उसके द्वारा प्रचलित शासन-व्यवस्था को जनता परिवर्तित करना चाहे तो विधान-परिषद् के अतिरिक्त अन्य कोई सुगम एवं सब के लिये सर्वाधिक

सन्तोषप्रद साधन नहीं है। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति को असम्भव देखते हुए इसीलिये भारतीय जनता के प्रतिनिधियों ने विधानपरिषद् द्वारा भारत के लिये विधान-निर्माण के दावे को रखा। "जन निर्वाचित संविधान सभा का विचार पहलेपहल सन् १९२२ में महात्मा गाँधी के दिमाग में आया था। उन्होंने लिखा था, 'स्वराज्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट द्वारा बिना मूल्य दिया हुआ उपहार नहीं होगा. यह भारत के पूर्ण आत्म-प्रकाश की घोषणा होगी। यह ठीक है कि इसका प्रकाशन पार्लमेण्ट के एक अधिनियम द्वारा होगा, परन्तु वह भारत की घोषित अभिलाषा की शिष्ट स्वीकृतिमात्र होगी, जैसा कि दक्षिण अफ्रिकन-संघ के मामले में हुआ था।" विधान परिषद् की कल्पना गाँधीजी के मस्तिष्क में बहुत पहले ही आयी थी, तथापि १९३५ से पूर्व तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस विचार को गम्भीरतापूर्वक और अधिकृत रूप में नहीं अपनाया था। १९३६ में कांग्रेस का अधिवेशन फैजपुर में हुआ। उसमें सर्व सम्मति से एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें स्पष्टतः कहा गया कि भारत के लिये तबतक किसी वास्तविक लोकतंत्रात्मक विधान की रचना नहीं हो सकती जबतक कि बालिग मताधिकार द्वारा उसके ही प्रतिनिधियों द्वारा विधान निर्माण न हो। इसके पश्चात् १९३५ के शासनविधान के अनुसार जो साधारण निर्वाचन हुए, उनमें निर्वाचित व्यवस्थापकों का एक सम्मेलन १९३७ ई० में दिल्ली में हुआ। उस सम्मेलन में व्यवस्थापकों ने कांग्रेस के निम्न अपरिवर्तनीय लक्ष्य की शपथ ग्रहण की :—

"यह सम्मेलन भारत की राजनीतिक अथवा राजनीतिक रूपरेखा के सम्बन्ध में किसी भी बाहरी शक्ति अथवा अधिकारी के निर्देश करने के अधिकार को स्वीकार न करने की घोषणा करता है। भारतीय जनता एकमात्र अपने द्वारा निर्मित उस वैधानिक रूपरेखा को अंगीकार करेगी जो भारत के एक राष्ट्र के रूप में निर्मित हो और जिसके द्वारा उसकी आशाओं एवं आकांक्षाओं को पूर्ति एवं विकास का उसे अवसर प्राप्त हो सके।"

"यह सम्मेलन भारत में एक ऐसे यथार्थ लोकतंत्रात्मक राज्य का समर्थक है जिसमें समस्त जनता को सामूहिक रूप में सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाय और ऐसे लोकतंत्रात्मक राज्य का गठन बालिग मताधिकार के आधार पर गठित विधानपरिषद् द्वारा भारतीयों द्वारा ही सम्भव है। उसे ही देश के विधान की अन्तिम रूपरेखा के निर्माण का अधिकार है।"

जनवरी १६३८ में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था, "राष्ट्रीय कांग्रेस का लक्ष्य स्वतंत्रता और लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना है। उसकी मांग है कि स्वतंत्र भारत का संविधान, बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा द्वारा बनाया जाय। लोकतंत्र का मार्ग यही है। और क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं जिससे आवश्यक परिणाम निकल सके। इस प्रकार निर्वाचित सभा समस्त जनता की प्रतिनिधि होगी और उसकी रुचि छोटे-छोटे समूहों को प्रभावित करनेवाले तुच्छ साम्प्रदायिक प्रश्नों की अपेक्षा

सर्वसाधारण की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं में अधिक होगी इस प्रकार यह बिना विशेष कठिनाई के साम्प्रदायिक तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं को हल कर लेगी।"

भारतीय नेताओं द्वारा प्रस्तावित विधानपरिषद का ब्रिटिश सरकार बराबर विरोध करती रही, क्यों कि वह वास्तव में भारतीयों के हाथ में वास्तविक शासनसूत्र सौंपना नहीं चाहती थी। उसने इस प्रकार की घोषणाएँ बराबर कीं और सदा ही उसने भारत में स्वायत्त शासन, उत्तरदायी शासन तथा औपनिवेशिक स्वराज्य तक के आश्वासन दिये किन्तु उसकी घोषणाएँ यथार्थ से कितनी दूर थीं, इसका विवेचन पहले किया जाचुका है। अतः ब्रिटिश सरकार जबतक देश के लोकमत के अपरिहार्य अनुरोधों तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से सर्वथा विवशता की स्थिति में न आजाय, तबतक वह अपनी घोषणाओं को कार्यान्वित नहीं करना चाहती थी। द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य तथा उसके साम्राज्यवादी हितों को गहरा धक्का लगा था और पूर्व में उसका साम्राज्य वस्तुतः ध्वस्त हो चला था, अतः जोकुछ भी रक्षित किया जासके, उसे ही लेकर अब वह भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर देने के लिये उद्यत हो गयी। उधर मुसलिम जनता की पाकिस्तान की मांग थी, अतः ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने यह भी सोचा कि भारत जब स्वाधीन होने ही जारहा है तब अधिक-से-अधिक जो लाभ किया जासकता हो, वह मुसलिम जनता को सन्तुष्ट करके उठा लिया जाय। क्रिप्स योजना में

अँगरेजों का वह मनोभाव स्पष्ट होता था और इसी उद्देश्य से उसमें विधानपरिषद् की मांग को भी स्वीकार कर लिया गया। उसकी विफलता के पश्चात् १५ मार्च १९४६ को मजदूरदल के प्रधान मंत्री मि० एटली ने कामनसभा में घोषणा की :—

"भारत ४० करोड़ व्यक्तियों का राष्ट्र है, वह दो बार अपनी सन्तानों को स्वतंत्रता पर मर मिटने के लिये भेज चुका है। वह यदि अपने भविष्य का निर्माण स्वयं करने की स्वतंत्रता का दावा करता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। वर्तमान शासन के स्थान पर कौन-सी शासनप्रणाली प्रतिष्ठित की जाय, यह निर्णय करना भारत का काम है, परन्तु हमारी इच्छा है कि इस निर्णय पर पहुंचने के लिये तुरन्त ही आवश्यक व्यवस्था करने में हम भारत के सहायक हों।"

इस घोषणा में निहित भाव के अनुसार ब्रिटिश मंत्रि-प्रतिनिधि-मण्डल द्वारा प्रस्तावित सुझावों की १८ से लेकर २१ धाराओं तक के आधार पर भारतीय विधानपरिषद् का गठन कतिपय प्रतिबन्धों के साथ किया गया। उक्त धाराओं की प्रमुख बातें यह थीं :—

"नवीन वैधानिक रूपरेखा के निर्माण के हेतु जिस प्रतिनिधि परिषद् के गठन की आवश्यकता है उसके लिये सर्वप्रधान विचारणीय विषय यह है कि उसका गठन इस प्रकार किया जाय कि देश की विशाल आबादी का अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व उसमें हो सके। वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचन स्पष्टतः सर्वाधिक

सन्तोषजनक होगा, किन्तु इसके अनुसार कार्य करने में विधान निर्माण में अत्यधिक विलम्ब हो जायगा जो सर्वथा अमान्य होगा। इसलिये इसके स्थान पर एकमात्र यही उपाय है कि हाल ही में निर्वाचित होनेवाली प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों द्वारा विधानपरिषद् के लिये निर्वाचन कर लिया जाय।"

"प्रत्येक प्रान्त से, उसकी आबादी के अनुसार, मोटे तौर पर दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि का चुनाव कर लिया जाय जो वयस्क मताधिकार के अभाव में, उसके निकटतम की व्यवस्था होगी।"

"प्रान्तों को जितनी सीटें प्रदान की जायें, उनका बँटवारा आबादी के अनुपात में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों में कर दिया जाय।"

"इच्छा है कि रियासतों को भी विधानपरिषद् में अन्तिम रूपरेखा निश्चित करने के लिये समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय और ब्रिटिश भारत की प्रणाली के आधार पर गणना द्वारा, रियासतों के प्रतिनिधियों की संख्या ९३ से अधिक नहीं हो सकती। किन्तु उक्त प्रतिनिधियों के 'चुनने' की प्रणाली परामर्श द्वारा निर्धारित की जायगी। प्रारम्भिक अवस्था में यह कार्य परामर्शकर्त्री समिति द्वारा किया जायगा।"

विधानपरिषद की आलोचना—

इस प्रकार जिस विधानपरिषद् के गठन का प्रस्ताव किया

गया वह न तो वयस्क मताधिकार के आधार पर थी और न तो जनता ने प्रत्यक्ष रूप में विधान-निर्माण के लिये उसके प्रतिनिधियों का निर्वाचन ही किया था। हमारी यह संविधानसभा भी अँगरेजों की देन ही प्रमाणित हुई और इस आधार पर अनेक अंचलों में इसकी प्रणाली तथा इसकी क्षमता को लेकर आपत्तियाँ भी उठायीं गयीं। १९३७ के दिल्ली के व्यवस्थापक-सम्मेलन की शपथ की भी पूर्ति उक्त परिषद् से नहीं हुई। उसी सम्मेलन में यह भी कहा गया था कि, "भारतीय लोकमत के अनुसार १९३५ के शासनविधान का निर्माण भारतीय जनता की दासता बनाये रखने तथा उसके अनवरत शोषण के लिये ही किया गया है ·· निर्वाचकों ने कांग्रेस के स्वतंत्रता के लक्ष्य तथा उसके द्वारा नये शासनविधान (१९३५) की अस्वीकृति पर अपनी मुहर लगा दी है। और उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्वतंत्र भारत का विधान संविधान सभा द्वारा ही बनाया जासकेगा।" किन्तु इस घोषणा की पूर्ति भी उक्त संविधान सभा द्वारा नहीं हुई। जिस १९३५ के शासनविधान के सर्वथा बहिष्कार की घोषणा कांग्रेस ने बार-बार की थी, उसीके अनुसार संविधान सभा की अधिकांश कार्यवाही करनी पड़ी। सी० एफ० स्ट्रांग ने 'माडर्न पोलिटिकल कन्स्टीट्यूशन्स' (Modern Political Constitutions) में लिखा है :—

"फरवरी १९४७ में प्रधानमंत्री ने कामन्स सभा में ब्रिटिश सरकार का यह इरादा स्पष्ट कर दिया कि वह जून १९४८ तक

उत्तरदायी भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर देगी। इस घोषणा के होते ही भारतीय नेता अपने मतभेदों के सम्बन्ध में समझौता करलेने के लिये आतुर हो उठे और इसका यह सर्वथा अप्रत्याशित परिणाम हुआ कि वे पूर्ण स्वाधीनता के दावे को तिलांजलि देकर भारत और पाकिस्ता के रूप में दो उपनिवेशों में, ब्रिटिश राज-मुकुट के नीचे विभाजन के लिये तैयार हो गये। ब्रिटिश सरकार ने आवश्यक विधानव्यवस्था करदी और अगस्त १९४७ में दो उपनिवेश बन गये। अब तात्कालिक आवश्यकता इस बात की हुई कि इस प्रकार अप्रत्याशित भाव में जो दो उपनिवेश बन गये हैं, विधान के अभाव में, उनके लिये व्यवस्था किस प्रकार की जाय। उस समय केवल दो विधानपरिषदें थीं—एक भारतीय संविधानसभा तथा दूसरी मुसलमानों द्वारा गठित अपनी पृथक विधानपरिषद्। इस कठिनाई का निराकरण, आवश्यक संशोधनों के बाद, १९३५ के शासनविधान को अपनाकर, कर लिया गया। यही दोनों उपनिवेशों का मूल-भूत शासनविधान माना गया और इसी ने दोनों विधानपरिषदों को पार्लमेण्ट का दर्जा प्रदान किया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधान-परिषद्-सम्बन्धी कांग्रेस की जो घोषणाएँ थीं, उनके अनुसार भारतीय संविधानसभा का गठन नहीं हुआ। और गठन नहीं हुआ, इतना ही नहीं; हमतो देखते हैं कि जिस १९३५ के शासनविधान को हमने दासता और शोषण का साधन बताया था, उसीको आधार मानकर संविधान सभा ने अपना विधान निर्माण किया।

उक्त आरोप हैं जो भारतीय संविधानसभा के गठन की प्रणाली, कार्य करने की शैली, उसकी क्षमता तथा उसके परिणामों पर लगाये जाते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि जिन स्थितियों में भारतीय संविधानसभा का गठन हुआ, और देशके एक महत्वपूर्ण भाग एवं सम्प्रदाय के विरोध के होते हुए, उनमें वयस्क मताधिकार के अनुसार विधान परिषद्का निर्वाचन न केवल विलम्ब का कारण होता, बल्कि परिस्थितियों को देखते हुए उसकी व्यवहारिकता भी सन्देह एवं विवाद से परे नहीं थी। संविधान सभा ब्रिटिश सरकार की देन इस अर्थ में है, और इस कारण से कि, भारत ने किसी रक्तरंजित क्रान्ति द्वारा नहीं, शान्तिपूर्ण प्रणाली से सत्ता प्राप्त की है। फिर भी एकमात्र वैधानिक दृष्टि से विचार करने पर भारतीय संविधान सभा की वैधानिक स्थिति एवं क्षमता-सम्बन्धी जो आलोचनाएँ की जाती हैं, वे सर्वथा निराधार नहीं। एक लेखक ने इस विषय पर अपना मन्तव्य अत्यन्त जोरदार शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है :—

A Constituent Assembly whose only excuse for existence is the Cobinet Mission plan, was first gathered, at the British behest, for frami-ng the Constitution. But who ever authorised this Assembly to fame a Constitution for India ? The Dominion Government was made

Sovereign by a British fiat—and the Constituent Assembly, over night was made a sovereign body by a fiat of that government. This is the most amazing episode in history of Self-declared sovereignty without a mandate from any body.

Neither the members of the Interim Government nor the Constituent Assembly have any authority or mandate to frame any Constitution whatsoever....The only mandate which it (Congress) ever had was obtained in 1937 to 'destroy" the Government of India Act 1935.....The members of this Assembly, elected under the provisions of an Act (Government of India Act 1935), which they were pledged to 'destroy' gather under the aegis and guidance of a dominion government constituted and functioning under The Act 'to be destroyed' and frame a Constitution for India." (A Layman Looks At The Constitution of India—pp 42-43)

संविधान सभा—

१६ जून १९४६ की घोषणा के पश्चात् भारतीय संविधान सभा के लिये प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों ने किया। जूलाई १९४६ तक निर्बाचन का कार्य सम्पन्न हो गया। निर्वाचन परिणाम के अनुसार कुल ३८९ सीटों में से कांग्रेस को २०५, मुसलिम लीग को ७३, स्वतंत्र उम्मेद्वारों को १८ सीटें मिलीं। इनमें ११ हिन्दू, ३ मुसलमान और ४ सिख थे। बाद को जब मुसलमानों ने अपनी पृथक पाकिस्तानी विधान परिषद् का निर्माण किया तब भारतीय संविधान सभा के कुल ३०८ सदस्य रहे। सभा की पहली बैठक ९ दिसम्बर १९४६ को हुई और अन्तिम २६ नवम्बर १९४९ को। विधान-निर्माण में इस प्रकार २ वर्ष ११ महीने और १८ दिन लगे। सभा के कुल ११ अधिवेशन हुए जिनमें लगभग ७,६३५ संशोधनों की सूचना मिली। वास्तविक संशोधनों की संख्या २,४७३ रही। वैधानिक सलाहकारों द्वारा प्रस्तावित विधान के मसविदे में २४३ धाराएँ और १३ परिशिष्ट थे। मसविदा समिति ने परिषद् के सामने ३१५ धाराएँ तथा ८ परिशिष्ट उपस्थित किये। अन्तिम रूप से स्वीकृत विधान में ३९५ धाराएँ तथा ८ परिशिष्ट हैं। विधान परिषद् के प्रति सारे देश में बड़ी उत्सुकता रही और देशभर से कितने ही दर्शक उसमें उपस्थित हुए। ऐसे दर्शकों की संख्या प्रायः ५३,०० रही। विधाननिर्माण का कुल व्यय ६३,९६,७२९ रूपये हुआ।

संसार के दूसरे देशों के विधान-निर्माण-सम्बन्धी आँकड़े इस प्रकार हैं :—

अमेरिका	७	धाराओं के लिये	४ महीने
कनाडा	१४७	धाराओं के लिये	२ वर्ष ५ मास
आस्ट्रेलिया	१२८	धाराओं के लिये	९ वर्ष
दक्षिण अफ्रीका	१५३	धाराओं के लिये	१ वर्ष

लक्ष्य घोषणा—

विधान निर्माण का कार्यारम्भ करने के पूर्व संविधान सभा के समक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू ने सभा तथा भावी विधान के लक्ष्यों की घोषणा करनेवाला एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उक्त प्रस्ताव काफी वादविवाद के पश्चात् स्वीकृत हुआ। १३ दिसम्बर १९४६ को वह प्रस्ताव उपस्थित किया गया था और २२ जनवरी १९४७ को सभा की उसपर स्वीकृति प्राप्त हुई। उक्त प्रस्ताव में घोषित किया गया कि भारत को एक ऐसा लोकतंत्रात्मक राष्ट्र बनाना है :—

"जिसमें सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र भारत की और इसके निर्माता भागों की तथा इसके शासन के अंगों की शक्ति और अधिकार, जनता से प्राप्त होंगे, और

"जिसमें भारत के सब लोगों के लिये सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की, प्रतिष्ठा तथा अवसर की और विधि (कानून) की दृष्टि में समानता की; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास,

धर्म, उपासना, आजीविका और काम की स्वतन्त्रता की, विधि (कानून) तथा सार्वजनिक सदाचार के अधीन रहते हुए, गारन्टी और निश्चित प्राप्ति करायी जायगी; और

जिसमें अल्प संख्यकों, अनुन्नतजन-जातियों के (कबायली) क्षेत्रों और दलित तथा अन्य अनुन्नत वर्गों के लिये पर्याप्त परित्राण (संरक्षण) की व्यवस्था की जायगी; और

जिसमें लोकतन्त्र के प्रादेशिक क्षेत्र की एकता की, और भूमि, समुद्र तथा वायु में इसके सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न अधिकारों की, न्याय और सभ्य राष्ट्रों के कानून के अनुसार रक्षा की जायगी; और यह प्राचीन देश संसार में अपना अधिकारपूर्ण तथा सम्मानित स्थान प्राप्त करता हुआ, संसार में शान्ति, वृद्धि तथा मानव कल्याण की उन्नति में स्वेच्छया अपना भाग प्रदान करेगा।"

विविध समितियों के प्रतिवेदनों (रिपोर्टों) ने सांविधानिक प्रासाद के लिये ईंट और चूने का काम दिया था। ये समितियाँ थीं :—संघ शक्ति समिति, संघ संविधान समिति, प्रान्तिक संविधान समिति, अल्पसंख्यक वर्ग तथा मौलिक अधिकार मन्त्रणा समिति, मुख्य आयुक्तों (कमिश्नरों) और संघ तथा राज्यों में वित्तीय (आर्थिक) सम्बन्धों की समितियां, और जन-जाति क्षेत्र मन्त्रणा समिति (ट्राइबल एरिया एडवाइजरी कमेटी)। परन्तु उसके अन्तिम रूप और आकार पर निश्चय लेखन समिति (ड्राफ्टिंग कमेटी) ने किया था, उसके सभापति डा० अम्बेदकर थे। संविधान के लेखन में आठ मास तक श्रम करना पड़ा, और

उसके पश्चात् उसपर संविधान सभा ने खंडशः (क्लाज बाई क्लाज) विचार करके और उसपर जो आलोचनायें हुईं, उनको ध्यान में रखकर, उसमें संशोधन कर दिये।

२६ नवम्बर, १९४९ को संविधान सभा ने भारत की जनता की ओर से संविधान को, जो कि आज की स्वतन्त्रता का अधिकारपत्र है, अंगीकृत और अधिनियमित कर दिया (कानून के रूप में पास कर दिया)। इस प्रकार दो वर्ष, ग्यारह मास और अठारह दिन के पश्चात् जो संविधान तैयार हुआ, उसमें ३७५ अनुच्छेद (धारायें) और आठ सूचियाँ (शिड्यूल) हैं।

राष्ट्रीय ध्वज—

संविधान सभा ने राष्ट्र को उसका राष्ट्रीयध्वज और चिन्ह भी प्रदान किये हैं। २२ जुलाई, १९४७ की सभा ने अशोक चक्रांकित तिरंगे को भारत का ध्वज अंगीकृत कर लिया। यह ध्वज जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "किसी साम्राज्य का या साम्राज्यवाद का ध्वज नहीं, अपितु स्वतन्त्रता का ध्वज है, केवल हमारे लिये ही नहीं, अपितु जो भी इसे देखें, उन सभी की स्वतन्त्रता का यह प्रतीक है।"

यह भी भारतीय परम्परा के अनुकूल ही हुआ कि स्वतन्त्रता का यह प्रतीक संविधान सभा को भारतीय नारियों की ओर से श्रीमती हंसा मेहता ने भेंट किया। ('हमारा संविधान,' भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पृष्ठ ८-१०)।

भारतीय संविधान

नवाँ अध्याय

संविधान का उद्देश्य

भारतीय संविधान सभा द्वारा निर्मित भारतीय संविधान विगत २६ जनवरी १९५० से लागू किया गया है और इसके द्वारा अभी शासनतंत्र का संचालन होते बहुत ही सीमित दिन हुए हैं, अतः कार्यरूप में विधान कैसा उतरेगा, इसका निर्णय भविष्य के गर्भ में है। किन्तु संविधान निश्चय ही उच्चादर्शों पर प्रतिष्ठित है और लोकोपयोगी भावनाओं द्वारा अनुप्रेरित है। अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति उड्रो विलसन ने संविधान की कसौटी निर्धारित करते हुए कहा था कि, "सांविधानिक शासन वह है, जिसकी शक्तियाँ जनता के हितों के अनुकूल प्रयुक्त हों और वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा करें।" और वास्तव में विधान स्वतः इतना अच्छा या बुरा नहीं हुआ करता जितना उसका उपयोग एवं प्रणाली। संविधान सभा द्वारा नियुक्त संविधान लेखन समिति के अध्यक्ष डा० भीमराव अम्बेद्कर ने, संविधान सभा के अन्तिम अधिवेशन में कहा था कि,

"किसी बिधान का निर्माण किन आदर्शों की प्रेरणा से हुआ है, और उसकी भाषा कितनी प्रजातंत्रात्मक है, इसके आधार पर किसी विधान की सफलता निर्भर नहीं करती, बल्कि उसकी कसौटी यह है कि उसे

कार्यान्वित करनेवाली कैसी अनुप्रेरक शक्तियाँ और भावनाएँ हैं। विधान चाहे कितने भी अच्छे सिद्धान्तों पर आधारित हो, किन्तु यदि उसे कार्यान्वित करनेवाले ईमानदारी से कार्यान्वित नहीं करें, तो अच्छा-से-अच्छा विधान भी व्यर्थ हो जाता है। परन्तु यदि विधान बुरा भी हो और उसे कार्यान्वित करनेवाले सदाशयता की प्रेरणा से उसे कार्यान्वित करते हों तो वह भी उपयोगी प्रमाणित हो जाता है। अतः विधान की सफलता जनता तथा राजनीतिक दलों पर निर्भर करती है। सांविधानिक उपायों द्वारा यदि उक्त दोनों शक्तियाँ अपने लक्ष्य पूर्ति की ओर अग्रसर होती हैं और क्रान्ति का आश्रय नहीं लेतीं, तो निश्चय ही हमारा संविधान सफल होकर रहेगा।"

अतएव विधान की वास्तविक कसौटी—उसकी यथार्थ अभिपरीक्षा तो उसके कुछ दिनों तक कार्यान्वित होनेपर ही होगी, किन्तु हमारी संविधान सभा ने जिस भारतीय संविधान का निर्माण किया है वह निश्चय ही उच्च भावना से प्रेरित एवं गणतंत्र के अत्यन्त उच्च आदर्श पर प्रतिष्ठित है। हमारे विधान-निर्माताओं ने अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, आयर्लैण्ड आदि अनेक देशों की विधान निहित व्यवस्थाओं को, भारतीय स्थिति एवं परम्परा के अनुकूल होने पर भारतीय संविधान के लिये अपनाया है। उक्त देशों के संविधानों की, कार्यान्वित होनेपर, कसौटी हो चुकी है, अतः उनके अनुभवों से लाभान्वित होने की चेष्टा की गयी है।

प्रस्तावना

भारत के संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है :—

"हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को : सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करनेवाली बन्धुता बढ़ाने के लिये दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिती मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छ विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

इस प्रकार संविधान द्वारा 'भारत लोकतंत्रात्मक गणराज्य' है और "हम, भारत के लोगों" ने इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया है। इस प्रकार हमारा विधान जनता का, जनता द्वारा, जनता के हित के लिये है और हमारा राष्ट्र सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है और लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। उक्त प्रस्तावना द्वारा यह अन्तिम रूपेण घोषित कर दिया गया है। उक्त प्रस्तावना अमेरिका के विधान पर आधारित है। उसमें कहा गया है :—

"हम, अमेरिका के लोग, अधिकतर पूर्ण इकाई के निर्माण, न्याय की प्रतिष्ठा, गृह शान्ति का संरक्षण, पारस्परिक सुरक्षा, सार्वजनिक कल्याण की

उन्नति तथा स्वतः एवं भावी सन्तति के लिये स्वतंत्रता की सुख सुविधाओं का उपभोग करने की सुरक्षा प्राप्त करने के हेतु, इस विधान को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के लिये अंगीकृत एवं अधिनियमित करते हैं।"

अमेरिका का विधान वहां के गृहयुद्धों के पश्चात् बनाया गया था, अतः उसमें 'गृहशान्ति के संरक्षण' की बात गयी है। हमारे विधान में 'स्वतंत्रता', 'समता' एवं 'बन्धुत्व' शब्द फ्रान्सीसी विधान से लिये गये हैं।

लोकतंत्रात्मक विधान—

हमारा संविधान गणतंत्रात्मक है, यद्यपि 'गणतंत्र' स्वयं विवादग्रस्त शब्द है, सभी राजनीतिक विचारक एवं विचारधाराएँ इस शब्द की व्याख्या तथा इसमें निहित भावों पर एक मत नहीं हैं। पिछले दिनों तो मुसोलिनी के फासिस्टवाद तथा हिटलर के नात्सीवाद के अप्रत्याशित अभ्युदय के कारण गणतंत्र प्रायः बदनाम हो चला था। लुई चतुर्दश, विलियम प्रिन्स आव आरेञ्ज, फ्रेडरिक महान जैसे कतिपय शासकों तथा कतिपय विचारक गण-तंत्र के कट्टर विरोधी हो चुके हैं, किन्तु क्रामवेल, मिराबू, मैजिनी, गैरी वाल्डी, ग्लैडस्टन, मार्क्स, लेनिन और विलोबी जैसे शासकों और विचारकों ने गणतंत्र को ही आदर्श व्यवस्था माना है। अमेरिका के वाशिंगटन तथा गणतंत्र की वेदी पर बलिदान होने-वाले अब्राहम लिंकन ने भी गणतंत्र को आदर्श व्यवस्था माना है। लेनिन कहा करता था कि शासन व्यवस्था में प्रत्येक को—

यहाँतक कि एक गृहपरिचारिका तक को हाथ बटाने की योग्यता होनी चाहिये। पिछले दिनों मुसोलिनी और हिटलर गणतंत्र के घोर विरोधी थे। दिसम्बर १६२६ में मुसोलिनी ने कहा था—"मैं ऐसी शासन व्यवस्था चाहता हूं जिसमें विरोध न हो—विरोधी दल की हमें आवश्यकता भी नहीं है। इसके बाद मई, १६२७ में उसने कहा कि—"हमने सम्पूर्ण वयस्क मताधिकार जैसी भण्डतापूर्ण व्यवस्था को सर्वथा दफना दिया है।" और नात्सी-वादी जर्मन-युवक तो कहा करता था, "हम अपने रक्त से सोचते हैं, और स्वतंत्रता पर घृणा के साथ थूकते हैं।"

तो गणतंत्र के विरुद्ध इस प्रकार के मतों का कारण क्या है? सर फ्रान्सिस गाल्टन ने लिखा है :—

"अभी डेढ़ सौ वर्ष पहले तक श्वेत और रंगीन जातियों की पाँच-चौथाई जनसंख्या दासता की शृङ्खला में बँधी रही है। कानून की दृष्टि में भलेही उन्हें स्वाधीनता और समानता प्राप्त होगयी हो, किन्तु वास्तव में उनकी दशा दासों से अच्छी नहीं रही।"

प्लेटो और वाल्टेयर गणतंत्र के विरोधी हों, ऐसी बात नहीं, किन्तु पिछली शताब्दियों में गणतंत्रात्मक शासनप्रणालियाँ फली-भूत नहीं हो सकीं, अथवा कटुआलोचना का विषय बनी रहीं, इसके कारण हैं। और कारणों का उल्लेख सर फ्रान्सिस के उक्त वक्तव्य से हो जाता है। समान सुविधा न मिलने तथा राज-नीतिक एवं कानूनी समानता की घोषणा होनेपर भी आर्थिक असुविधाओं एवं आर्थिक विपन्नताओं के कारण अशिक्षित नाग-

रिक अपने गणतंत्रात्मक अधिकारों का उपयोग और उपभोग नहीं कर सकता। इसीलिये प्लेटो के कथनानुसार :—

"उन पशुओं (जनता) का कुछ भी ठीक नहीं कि कब वे भीषण भावों से उत्तेजित हो उठेंगे और कब कोमल भावनाएँ उन्हें नम्र बना देंगी। क्या कहकर उन्हें भड़काया और क्या कहकर उन्हें ठण्डा किया जासकता है, कुछभी निश्चित नहीं। जनता सदैव मूर्ख ही रहेगी।"

इसी प्रकार का एक मन्तव्य वाल्टेयर ने भी व्यक्त करते हुए जनता को हिंस्र पशुओं से भी भीषणतर बताया है। उसकी दृष्टि में जनता बैलों के समान होती है, उससे सिर्फ जुये में जोतकर काम लिया जासकता है। जनता मूर्ख होती है, वह कुछभी तर्क नहीं जानती, कोरे भावावेश में ही वह उत्तेजित होकर कार्य करती है।

एक आधुनिक लेखक राल्फ आडम्स क्रैम ने अपनी पुस्तक (The Nemesis of Mediocrity) में लिखा है :—

Democracy achieved its perfect works and has now reduced all mankind to a dead level of incapacity where great leaders are no longer wanted or brought into existence.

अर्थात् :—गणतंत्र अपने कार्यों को पूरा कर चुका है। उसने समस्त मानव जाति को मृतप्रायः करके पूर्ण निकम्मा बना डाला है। अब योग्य नेताओं की आवश्यकता नहीं रही।

अमेरिका के एक दूसरे लेखक एच० एल० मकेन ने गणतंत्रात्मक शासन प्रणाली की कटुतम आलोचनाएँ की हैं। इन लेखकों का कहना यह है कि अशिक्षित जनता के भावावेश का अनुचित लाभ उठाकर कोई भी दुष्ट नेता अपना उल्लू सीधा करने लगता है और इस प्रकार सुविधावादी नेताओं द्वारा गठित शासनतत्र निर्बल, सिद्धान्तहीन, पदलोलुप, दोषपूर्ण एव अयोग्य बनजाता है। इस प्रकार की शासनप्रणाली में केवल दो प्रकार के लोगों का अस्तित्व पाया जाता है। एक तो वे हैं जिन्हें बज्रमूर्खों में ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार करना पड़ता है जिनमें प्रचारकों की स्वयं भी कोई आस्था नहीं होती; और दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो मूर्ख प्रचारकों की ऊँचे आदर्श एव सिद्धान्त की बातों को इस प्रकार सुनते हैं, जिनमें मानों उनका सच्चा विश्वास हो। इस प्रकार गणतत्र की सारी शासन-व्यवस्था ही छल, प्रपञ्च और मिथ्या पर अवलम्बित है। तो क्या गणतंत्रात्मक राष्ट्र की राजनीति में कोई भला आदमी उतरे ही नही ?—लेखक उत्तर देता है कि, मैं नहीं कहता कि कोई भलाआदमी उतरे ही नहीं, मैं तो सिर्फ यह कहता हूँ कि उसमें उतर जानेपर कोई भी भलाआदमी, भला बना नहीं रह सकता। ईमानदारों के लिये ऐसी प्रणाली असह्य है, इसमें केवल दुष्ट प्रकृति के धूर्त ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

उपरोक्त समस्त कटु आलोचनाओं की भित्ति जनता की अशिक्षा एवं उसका अज्ञान है। इसीलिये स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि गणतंत्रात्मक शासनप्रणाली की सफलता के लिये नागरिकों की शिक्षा का कार्य सर्वप्रधान है। उक्त आलोचनाएँ सर्वथा निस्तत्व हो जाती हैं, यदि जनता शिक्षित होकर अपने उत्तर-

दायित्वों का पालन करना सीख जाये और कानूनी तथा राजनीतिक अधिकारों के साथ ही उसे समान रूप से आर्थिक अधिकार एवं समान सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त हो जायें। "पूंजीवाद के आधार पर बना हुआ कल का गणतंत्र आज यदि विफल हो चला तो समाजवाद के आधार पर जो गणतंत्र प्रतिष्ठित होगा उसमें समानता, स्वाधीनता एवं बन्धुत्व के सिद्धान्त पूर्ण होंगे। राजनीतिक साम्य के साथ आर्थिक साम्य मिलकर आजका अधूरा गणतंत्र, कल पूर्णता प्राप्त करेगा।" यह हमने १९३९ के अन्तिम दिनों में लिखा था। और आज जब हमने गणतंत्र की प्रतिष्ठा की है, तब हमें उसकी सफलता के आधारों को भी दृढ़ करना होगी। और तभी भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित हमारे उद्देश्यों की पूर्ति होगी।

दसवाँ अध्याय

संघ और उसका राज्य-क्षेत्र

१. (१) भारत, अर्थात् इण्डिया, राज्यों का संघ होगा। (२) उसके राज्य और राज्य-क्षेत्र प्रथम अनुसूची के भाग (क), (ख) और (ग) में उल्लिखित राज्य और उनके राज्य-क्षेत्र होंगे। (३) भारत के राज्य-क्षेत्र में—(क) राज्यों के राज्यक्षेत्र; (ख) प्रथम अनुसूची के भाग (घ) में उल्लिखित राज्य-क्षेत्र; तथा (ग) ऐसे अन्य राज्य-क्षेत्र जो अर्जित किये जायें, समाविष्ट होंगे।

२. संसद, विधि द्वारा, ऐसे निबन्धनों और शर्तों के साथ जिन्हें वह उचित समझे, संघमें नये राज्यों का प्रवेश या स्थापना कर सकेगी।

३. संसद, विधि द्वारा -(क) किसी राज्य से उसका प्रदेश अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी प्रदेश को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नया राज्य बना सकेगी; (ख) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी; (ग) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी, (घ) किसी राज्य की सीमाओं को बदल सकेगी; (ङ) किसी राज्य के नामको बदल सकेगी।

परन्तु इस प्रयोजन के लिये कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिपारिस बिना, तथा जहाँ विधेयक में अन्तर्विष्ट प्रस्थापना का प्रभाव प्रथम अनुसूची के भाग (क) या भाग (ख) में उल्लिखित राज्य या राज्यों की सीमाओं पर अथवा किसी ऐसे राज्य या राज्यों के नाम या नामों पर पड़ता हो, वहाँ जबतक कि विधेयक की पुरः स्थापना की प्रस्थापना के तथा उसके उपबन्ध, इन दोनों के सम्बन्ध में, यथा स्थिति, राज्य के विधानमण्डल अथवा राज्यों में से प्रत्येक के विधानमण्डल के विचार राष्ट्रपति ने निश्चित रूप से न जान लिये हों तबतक, किसी सदन में पुरः स्थापित न किया जायगा।

४. (१) अनुच्छेद २ या अनुच्छेद ३ में निर्दिष्ट किसी विधि में प्रथम अनुसूची और चतुर्थ अनुसूची के संशोधन के लिये ऐसे उपबन्ध अन्तर्विष्ट होंगे जो उस विधि के उपबन्धों को प्रभावी बनाने के लिये आवश्यक हों, तथा ऐसे अनुपूरक प्रासंगिक और आनुषंगिक उपबन्ध (जिनके अन्तर्गत ऐसी विधि से प्रभावित राज्य या राज्यों के, संसद या विधानमण्डल या विधानमण्डलों में, प्रतिनिधित्व के बारे में उपबन्ध भी हैं) भी हो सकेंगे, जिन्हें संसद आवश्यक समझे। (२) पूर्वोक्त प्रकार की ऐसी कोई विधि अनुच्छेद ३६८ के प्रयोजनों के लिये इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जायगी।

भारत के लिये एकात्मक शासनव्यवस्था के स्थानपर संघव्यवस्था पिछले अनेक वर्षों से विवाद का विषय रही है। तत्सम्बन्धी अनेक प्रस्तावित

व्यवस्थाओं की समीक्षा यथा स्थान की गयी है। वर्तमान संविधान द्वारा संघराज्य की स्थापना की गयी है और उसमें प्रविष्ट राज्यों के अतिरिक्त भावी राज्यों, क्षेत्रों तथा राज्यों के भागों को मिलाने, और उनकी सीमा एवं क्षेत्रों को न्यूनाधिक करने का अधिकार संसद को दिया गया है और ऐसे किसी भी संशोधन को संविधान का संशोधन नहीं माना जायगा। अतएव अनुच्छेद ३६८ के अनुसार संविधान संशोधन की जो प्रणाली स्थिर की गयी है, उसकी आवश्यकता उक्त संशोधनों के लिये नहीं है।

संघगत क्षेत्रों के अतिरिक्त सरकार को संविधान के अनुच्छेद २६० के अन्तर्गत भारत के बाहर के राज्य-क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी कतिपय अधिकार होंगे। उक्त अनुच्छेद इस प्रकार है :—

"भारत सरकार किसी ऐसे राज्य-क्षेत्र की सरकार से, जो भारत-राज्य-क्षेत्र का भाग नहीं है, करार करके ऐसे राज्य-क्षेत्र की सरकार में निहित किसी कार्यपालक, विधायी या न्यायी कृत्यों को ग्रहण कर सकेगी किन्तु प्रत्येक ऐसा करार विदेशी क्षेत्राधिकार के प्रयोग से सम्बद्ध किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन रहेगा और उससे शासित होगा।"

संघात्मक संविधान की विशेषताएँ

अन्य संघात्मक विधानों की अपेक्षा भारतीय संघविधान की कुछ अपनी विशेषताएँ, कुछ अपनी मौलिकताएँ हैं। अमेरिका के संघात्मक विधान के अन्तर्गत नागरिकों के लिये दोहरी नागरिकता के अधिकार प्राप्त हैं और जिस सत्ता को संघ ने स्वतः विघोषित एवं अधिनियमित करके अपना नहीं लिया है, उन

अवशिष्ट अधिकारों के उपयोग का अधिकार संघ की इकाइयों के लिये सुरक्षित समझा जायगा। किन्तु भारतीय संघ में प्रविष्ट राज्यों को जिन विषयों के अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनकी सूची पृथक है। संघ सूची के अन्तर्गत (अनुच्छेद २४६ के अनुसार) ९७ विषय हैं और राज्य-सूची के अन्तर्गत ६६ विषय। इसके अतिरिक्त सूची ३ के अन्तर्गत समवर्ती सूची है जिसके अन्तर्गत ५७ विषय हैं। इन विषयों को लेकर संघ तथा राज्यों को विधि व्यवस्था का समानाधिकार है। अवशिष्ट विधानशक्ति अमेरिका की भाँति राज्यों को नहीं, संघ को है। इसलिये कतिपय आलोचकों का कहना है कि भारतीय संघ को अपरिमित अधिकार देदिये गये हैं और इसके साथ अन्यान्य विषयों को लेकर राष्ट्रपति को जो अधिकार सौंपे गये हैं, उन्हें देखते हुए भारतीय संविधान संघात्मक रूपरेखा में होते हुए, आवश्यकतानुसार एकात्मक संविधान की भाँति उपयोग में लाया जासकता है। ऐसे आलोचकों का कहना है कि केन्द्र को इतने अधिकार देदिये गये हैं कि राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं की-सी हो गयी है। किन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। संविधान लेखनसमिति के अध्यक्ष डा० अम्बेदकर ने उक्त आरोपों का उत्तर देते हुए कहा है कि :—

"राज्यों को विधायिनी एवं कार्यपालिका शक्तियों के लिये जब केन्द्रपर निर्भर नहीं रखा गया है और केन्द्र तथा राज्य इस विषय में समानाधिकार रखते हैं तब संविधान पर अति-केन्द्रीय होने का आरोप नहीं लगाया

जासकना। यह सत्य है कि अवशिष्ट शक्ति केन्द्रको ही दी गयी है किन्तु सघात्मक विधान के लिये यह कोई अनिवार्य नहीं है कि राज्यों में वह शक्ति अवश्य ही निहित रहनी चाहिये। दूसरा आरोप यह लगाया गया है कि राज्यों के अधिकारों पर अतिक्रमण करनेका अधिकार केन्द्रको दिया गया है, और इस आरोप को स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु इस आधार पर विधान की निन्दा करने के पूर्व कतिपय विषयों को समझ लेना चाहिये। पहली बात यह कि ऐसे अधिकार सविधान में सामान्यकाल के लिये नही हैं। उनका उपयोग केवल आपातकाल के लिये है। और फिर क्या आपात की स्थिति में केन्द्र को ऐसे अधिकार नहीं दिये जायें? जो लोग ऐसी स्थिति में भी केन्द्र को ऐसे अधिकारों के देने के विरोधी हैं, उन्हें वस्तुस्थिति की स्पष्ट जानकारी नही है। राजनीतिक प्रणालियों में अधिकार एव कर्तव्य को लेकर कभी-कभी जटिलताएँ उत्पन्न हो जार्ती हैं। परिस्थिति विशेष में नागरिक इस उलझन में पडजाता है कि निष्ठा किसके प्रति दिखायी जाय। सामान्य स्थिति में यह प्रश्न नहीं उठता, विधि अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करती है और नागरिक अपने मार्ग पर सुगमतापूर्वक चलाजाता है। किन्तु किसी भी संक्रान्तिकाल में सघर्षशील दावे उठ खड़े होते हैं और तब यह स्पष्ट ही है कि निष्ठा को विभाजित नहीं किया जासकता। निष्ठा के प्रश्न का अन्तिम निर्णय न्यायपालिका के निर्वचनों द्वारा ही नहीं कराया जासकता। विधि तथ्यों के अनुसार ही होगी, अन्यथा उसकी दुर्गति होगी। अन्तिम रूपेण प्रश्न केवल इतना ही रह जायगा कि नागरिकों की निष्ठा का अधिकार किसे है? सघ को अथवा उसमें प्रविष्ट राज्य को? और इस प्रश्न का उत्तर ही समस्या की भूलभित्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश लोग यही चाहते

हैं कि आपातकाल में नागरिकों की निष्ठा संघ के प्रति होनी चाहिये, न कि उसके अंग राज्य में। क्योंकि एकमात्र संघ ही ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये और सार्वजनिक कल्याण के लिये कार्य कर सकता है। और इसी आधार पर राज्यों के अधिकारों पर आपातकाल में अतिक्रमण का अधिकार संघ को दिया गया है—इसी आधार पर इसका औचित्य है।"

आपातकाल की व्यवस्था—

इस प्रकार संघात्मक होते हुए भी संविधान एकात्मक रूप में किसी भी आकस्मिक राष्ट्रीय संकटकाल में काम कर सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत प्रविष्ट होनेवाले राज्यों को अवशिष्ट सत्ता देने का एक दुष्परिणाम यह देखा गया था कि राज्यों ने जहाँ थोड़ी-सी कठिनाई का अनुभव किया, उन्होंने संघ से पृथक होने की भावना व्यक्त की। अतः उक्त अनुभवों के आधार पर भारतीय संघ के लिये यह व्यवस्था की गयी कि संघ से राज्य पृथक नहीं हो सकेंगे। भारतीय संघ के अन्तर्गत न केवल प्रान्तों को, बल्कि ५६३ रियासतों को भी सम्मिलित किया गया, अतः देश के एकीकरण की बहुत बड़ी समस्या का समाधान इसके द्वारा किया गया। एक लम्बी अवधि तक निरंकुश शासन प्रणाली द्वारा प्रजा का शोषण करनेवाले शासक अपने पर अंकुश लगते देखकर संघ से पृथक नहीं हो सकें, इसके लिये उक्त व्यवस्था अनिवार्य थी। प्रान्तीयता के विष का निराकरण भी इसी उपाय द्वारा सम्भव था। हमारे संविधान

द्वारा एक राष्ट्रभाषा की समस्या का भी समाधान कर दिया गया। प्रान्तीय प्रमुख भाषाओं के विकास का अवसर रखते हुए हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा की घोषणा की गयी। इस प्रकार भारतीयसंघ संविधान ने हमारे राष्ट्र की समस्याओं का समुचित समाधान कर दिया है। संघात्मक विधानों की यह एक बहुत बड़ी जटिलता होती है कि उनमें बड़ी जकड़बन्दियाँ रहती हैं और उनमें परिवर्तन करना अत्यन्त दुरूह होजाता है, किन्तु हमारा संविधान संघात्मक होते हुए भी नमनीय है और किसी भी समय राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार संशोधन सम्भव है। संघ के समस्त राज्य-क्षेत्र में न्याय एवं शासन व्यवस्था में समानता हो, इसलिये एक सर्वोच्च न्यायपालिका और एक अखिलभारतीय सर्विस की व्यवस्था की गयी है।

ग्यारहवाँ अध्याय

नागरिकता

५ इस संविधान के प्रारम्भ पर प्रत्येक व्यक्ति जिसका भारत राज्य-क्षेत्र में अधिवास है, तथा—(क) जो भारत राज्य क्षेत्र में जन्मा था; अथवा (ख जिसके जनकों में से कोई भारत राज्य-क्षेत्र में जन्मा था; अथवा (ग) जो ऐसे प्रारम्भ से ठीक पहले कम-से-कम पांच वर्ष तक भारत राज्य-क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहा है; भारत का नागरिक होगा।

६. अनुच्छेद ५ में किसी बात के होते हुए भी कोई व्यक्ति जो पाकिस्तान के इस समय अन्तर्गत राज्य-क्षेत्र से भारत राज्य-क्षेत्र को प्रव्रजन कर आया है इस संविधान के प्रारम्भ पर भारत का नागरिक समझा जायेगा—(क यदि वह अथवा उसके जनकों में से कोई अथवा उसके महाजनकों में से कोई भारत-शासन-अधिनियम १९३५ (यथामूलत: अधिनियमित) में परि-भाषित भारत में जन्मा था; तथा (ख) (१) जबकि वह व्यक्ति ऐसा है जो सन् १९४८ की जुलाई के उन्नीसवें दिन से पूर्व प्रव्र-जन कर आया है तब यदि वह अपने प्रव्रजन की तारीख से भारत राज्य-क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहा है; अथवा (२) जबकि वह व्यक्ति ऐसा है जो सन् १९४८ की जुलाई के उन्नीसवें

दिन या उसके पश्चात् इस प्रकार प्रव्रजन कर आया है तब यदि वह भारत डोमीनीयन की सरकार द्वारा विहित प्रपत्र पर और रीति से नागरिकता प्राप्ति के आवेदन-पत्र के अपने द्वारा इस संविधान के प्रारम्भ से पहले ऐसे पदाधिकारी को, जिसे उस सरकार ने इस प्रयोजन के लिये नियुक्त किया है, दिये जाने पर उस पदाधिकारी द्वारा भारत का नागरिक पंजीवद्ध कर लिया गया है :

परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने आवेदन-पत्र की तारीख से ठीक पहले कम-से-कम छ महीने भारत राज्य-क्षेत्र का निवासी न रहा हो तो वह इस प्रकार पंजीबद्ध नहीं किया जायगा।

७. अनुच्छेद ५ और ६ में किसी बात के होते हुए भी जो व्यक्ति १९४७ के मार्च के पहले दिन के पश्चात् भारत राज्य-क्षेत्र से पाकिस्तान के इस समय अन्तर्गत राज्य-क्षेत्र को प्रव्रजन कर गया है, वह भारत का नागरिक नहीं समझा जायगा :

परन्तु इस अनुच्छेद की कोई बात ऐसे व्यक्ति पर लागू नहीं होगी जो पाकिस्तान के इस समय अन्तर्गत राज्य-क्षेत्र को प्रव्रजन के पश्चात् भारत राज्य-क्षेत्र को ऐसी अनुज्ञा के अधीन लौट आया है जो पुनर्वास के लिये या स्थायी रूप से लौटने के लिये किसी विधि के द्वारा या अधीन दी गयी है, तथा प्रत्येक ऐसा व्यक्ति अनुच्छेद ६ के खंड (ख) के प्रयोजनों के लिये भारत राज्य-क्षेत्र को १९४८ की जुलाई के १९ वें दिन के पश्चात् प्रव्रजन करनेवाला समझा जायगा।

८. अनुच्छेद ५ में किसी बात के होते हुए भी कोई व्यक्ति जो या जिसके जनकों में से कोई अथवा महाजनकों में से कोई भारत-शासन अधिनियम १९३५ (यथा मूलतः अधिनियमित) में परिभाषित भारत में जन्मा था, तथा जो सामान्यतया इस प्रकार परिभाषित भारत के बाहर किसी देश में रहता है, भारत का नागरिक समझा जायगा, यदि वह भारत डोमीनीयन सरकार द्वारा या भारत सरकार द्वारा विहित प्रपत्र पर और रीति से नागरिकता प्राप्ति के आवेदनपत्र के अपने द्वारा उस देश में, जहाँ वह तत्समय निवास कर रहा है, भारत के राजनयिक या वाणिज्यिक प्रतिनिधियों को इस संविधान के प्रारम्भ से पहले या बाद दिये जाने पर ऐसे राजनयिक या वाणिज्यिक प्रतिनिधियों द्वारा भारत का नागरिक पंजी-बद्ध कर लिया गया है।

९. यदि किसी व्यक्ति ने स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता अर्जित कर ली है तो वह अनुच्छेद ५ के आधार पर भारत का नागरिक न होगा, और न अनुच्छेद ६ या अनुच्छेद ८ के आधार पर भारत का नागरिक समझा जायगा।

१० प्रत्येक व्यक्ति जो इस भाग के पूर्ववर्त्ती उपबन्धों में से किसी के अधीन भारत का नागरिक है या समझा जाता है, ऐसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, जो संसद द्वारा निर्मित की जाये, भारत का वैसा नागरिक बना रहेगा।

११. इस भाग के पूर्ववर्त्ती उपबन्धों में की कोई बात नागरिकता के अर्जन और समाप्ति के तथा नागरिकता से सम्बद्ध

अन्य सब विषयों के बारे में उपबन्ध बनाने की संसद की शक्ति का अल्पीकरण नहीं करेगी।

नागरिकता : कर्तव्य एवं अधिकार—

नागरिकता के दो निर्णायक सिद्धान्त प्रधानतः स्थिर किये गये हैं (१) पितृस्थान (२) जन्मस्थान। किन्तु कभी-कभी इन दोनों ही सिद्धान्तों में व्यवहारतः संघर्ष हो जाता है। उदाहरणार्थ भारत में जन्म लेनेवाली अँगरेज माता-पिता की सन्तान। भारत में जन्म लेने के कारण उसे भारतीय नागरिकता के अधिकार होते हैं और माता-पिता के अँगरेज होने के कारण उसे इंग्लैंड की नागरिकता के उपयोग करने का भी अधिकार है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति की दोहरी नागरिकता होजाती है। अमेरिका के संविधान के अनुसार कोई भी नागरिक अपने जन्मवाले राज्य तथा संयुक्तराज अमेरिका—दोनों की नागरिकता का अधिकारी है। भारतीय संविधान केवल संघ की नागरिकता स्वीकार करता है, संघ में समाविष्ट राज्यों की नहीं।

नागरिकता की परिभाषा, एवं तद्विषयक कर्तव्यों एवं अधिकारों को लेकर अमेरिका के विधान की काफी छानबीन हो चुकी है। इन्हीं विवादों का अन्त करने के लिये १८६८ ई० में अमेरिका के संविधान में एक संशोधन (चौदहवाँ संशोधन) करते हुए अधिनियम बनाया गया कि, "अमेरिका में उत्पन्न होने अथवा देशीयकरण होने और उसके क्षेत्राधिकार में रहने के

कारण सभी व्यक्ति संयुक्त राज्य के तथा जिस राज्य में रहते हैं, उसके नागरिक हैं।

अमेरिका के चीफ जस्टिस (मुख्य न्यायाधिपति) वेट ने १८७५ ई० में एक मामले का निर्णय करते हुए नागरिकता, उसके कर्तव्य एवं अधिकार के सम्बन्ध में कहा था कि, "जनता के बिना राष्ट्र नहीं हो सकता। राजनीतिक समुदाय का अर्थ ही है कि लोग सम्मिलित होकर सार्वजनिक कल्याण के कार्य में अग्रसर हों। इस प्रकार संगठित होनेवाला प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का सदस्य होता है। वह राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखता है और उसके द्वारा रक्षा चाहता है। निष्ठा और रक्षा यह दोनों ही परस्पर में एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं। सुविधा के लिये समुदाय के व्यक्तियों को किसी-न-किसी संज्ञा से अभिहित करना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति तो संज्ञा देकर राष्ट्र के साथ उसका सम्बन्ध निर्धारित कर दिया जाता है। इसी उद्देश्य से 'प्रजा' 'निवासी' और 'नागरिक' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार की शासन-प्रणाली होती है, उसी के अनुसार संज्ञा प्रयुक्त होती है। लोक-तंत्रात्मक शासनप्रणाली के अन्तर्गत 'नागरिक' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।"

भारतीय संविधान द्वारा जिस लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी है, उसके अन्तर्गत 'नागरिक' शब्द का ही व्यवहार किया गया है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के अन्तर्गत 'प्रजा' शब्द का व्यवहार किया जाता था। अनेक राजकीय घोषणाओं में भारतीय नागरिकों को भारतीय प्रजा ही कहा गया है।

—:*:—

बारहवाँ अध्याय

मूल अधिकार

साधारण

१२. यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस भाग में "राज्य" के अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद, तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधानमंडल, तथा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी, भी हैं।

१३. (१) इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियाँ उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक की वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं। (२) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खंड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। (३) यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस अनुच्छेद में—(क) भारत राज्य-क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा "विधि" के अन्तर्गत होगी (ख) भारतराज्य में किसी विधान-मण्डल या अन्य क्षमताशाली प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के

प्रारम्भ से पूर्व पारित अथवा निर्मित विधि, जो पहले ही निरसित न हो गयी हो, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशेष क्षेत्रों में प्रवर्तन में न भी हो, "प्रवृत्त विधियों" के अन्तर्गत होगी।

समता अधिकार

१४ भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायगा।

१५. (१) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल-वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा (२) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक—(क) दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के, अथवा (ख) पूर्ण या आंशिक रूप में राज्यनिधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिये समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्व-जनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्यो-ग्यता, दायित्व, निर्बन्ध अथवा शर्त के अधीन न होगा। (३) इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिये कोई विशेष उपबन्ध बनाने में बाधा न होगी।

१६ (१) राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के

सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिये अवसर की समता होगी। (२) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिये राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायगा। (३) इस अनुच्छेद की किसी बात से संसद को कोई ऐसी विधि बनाने में बाधा न होगी जो प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्य के अथवा उसके राज्य-क्षेत्र में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किसी प्रकार की नौकरी में या पद पर नियुक्ति के विषय में वैसी नौकरी वा नियुक्ति के पूर्व उस राज्य के अन्दर निवास विषयक कोई अपेक्षा विहित करती हो। (४) इस अनुच्छेद की किसी बातसे राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिये उपबन्ध करने में कोई बाधा न होगी। (५) इस अनुच्छेद की किसी बात का किसी ऐसी विधि के प्रवर्तन पर कोई प्रभाव न होगा जो उपबन्ध करती हो कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदधारी अथवा उसके शासी निकाय का कोई सदस्य किसी विशिष्ट धर्म का अनुयायी अथवा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का ही हो।

१७. "अस्पृश्यता" का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूपमें आचरण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता'

से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा, जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।

१८. (१) सेना या विद्या-सम्बन्धी उपाधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा (२) भारत का कोई नागरिक किसी विदेशीराज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा (३) कोई व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार न करेगा (४) राज्य के अधीन लाभपद या विश्वासपद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशीराज्य से या अधीन किसी रूपमें कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सम्मति के विना स्वीकार न करेगा।

स्वातंत्र्य-अधिकार

१९. (१) सब नागरिकों को—

(क) वाक-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का;
(ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का;
(ग) संस्था या संघ वनाने का;
(घ) भारत राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अवाध संचरण का;
(ङ) भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बसजाने का;
(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का; तथा
(छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का,

अधिकार होगा।

(२) खण्ड (१) के उपखण्ड (क) की कोई बात अपमान-लेख, अपमान बचन, मान-हानि, न्यायालय अवमान से अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करनेवाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्तिवाले किसी विषयसे, जहाँतक कोई वर्तमानविधि सम्बन्ध रखती हो, वहाँतक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा सम्बन्ध रखनेवाली किसी विधिको बनाने में राज्य के लिये रुकावट न डालेगी। (३) उक्त खण्ड के उपखण्ड (ख) की कोई बात उक्त उपखण्ड द्वारा दिये गये अधिकार के प्रयोग पर सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहाँतक कोई वर्तमान विधि लगाती हो वहांतक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा वैसे निर्बन्धन लगानेवाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिये रुकावट न डालेगी। (४) उक्त खण्ड के उपखण्ड (ग) की कोई बात उक्त उपखण्ड द्वारा दिये गये अधिकार के प्रयोग पर सार्वजनिक व्यवस्था या सदाचार के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहाँतक कोई वर्तमान विधि लगाती हो, वहाँतक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा वैसे निर्बन्धन लगानेवाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिये रुकावट न डालेगी। (५) उक्त खण्ड के उपखण्ड (घ), (ङ) और (च) की कोई बात उक्त उपखण्डों द्वारा दिये गये अधिकारों के प्रयोग पर साधारण जनता के हितों के अथवा किसी अनुसूचित आदिम जाति के हितों के संरक्षण के लिये युक्तियुक्त निर्बन्धन जहाँतक कोई वर्तमान विधि लगाती हो वहाँतक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा वैसे निर्बन्धन लगानेवाली

कोई विधि बनाने में राज्य के लिये रुकावट न डालेगी। (६) उक्त खण्ड के उपखण्ड (छ) की कोई बात उक्त खण्ड द्वारा दियेगये अधिकार के प्रयोग पर साधारण जनता के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहाँतक कोई वर्तमान विधि लगाती हो, वहाँतक उसके प्रवतन पर प्रभाव अथवा वैसे निर्बन्धन लगानेवाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिये रुकावट न डालेगी, तथा विशेषतः उक्त खण्ड की कोई बात, कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के लिये आवश्यक वृत्तिक या शिल्पिक अर्हताओं को जहाँ-तक कोई वर्तमान विधि विहित करती है अथवा किसी प्राधिकारी को विहित करने की शक्ति देती है, वहाँतक उसके प्रवतन पर प्रभाव अथवा विहित करने, या विहित करने की शक्ति किसी प्राधिकारी को देनेवाली, कोई विधि बनाने में राज्य के लिये रुकावट न डालेगी।

२० (१) कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिये सिद्ध-दोष नहीं ठहराया जायगा, जबतक कि उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो, और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा, जो उस अपराध के करने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जासकता था। (२) कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिये एकबार से अधिक अभियोजित और दण्डित न किया जायगा। (३) किसी अपराध में अभियुक्त कोई व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिये वाध्य न किया जायगा।

२१. किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित न किया जायगा।

२२. (१) कोई व्यक्ति जो बन्दी किया गया है, ऐसे बन्दीकरण के कारणों से यथाशक्य शीघ्र अवगत कराये गये बिना हवालात में निरुद्ध नहीं किया जायगा और न अपनी रुचि के विधि-व्यवसायी से परामर्श करने तथा प्रतिरक्षा कराने के अधिकार से वंचित रखा जायगा। (२) प्रत्येक व्यक्ति जो बन्दी किया गया है और हवालात में निरुद्ध किया गया है, बन्दीकरण के स्थान से दण्डाधिकारी के न्यायालय तक यात्रा के लिये आवश्यक समय को छोड़कर ऐसे बन्दीकरण से २४ घण्टे की कालावधि में निकटतम दण्डाधिकारी के समक्ष पेश किया जायगा, तथा ऐसा कोई व्यक्ति उक्त कालावधि से आगे दण्डाधिकारी के प्राधिकार के बिना हवालात में निरुद्ध नहीं रखा जायगा (३) खण्ड (१) और (२) में की कोई बात— क जो व्यक्ति तत्समय शत्रु अन्यदेशीय है उसको, अथवा (ख) जो व्यक्ति निवारक निरोध उपबन्धित करनेवाली किसी विधि के अधीन बन्दी या निरुद्ध किया गया है उसको, लागू न होगी। (४) निवारक निरोध उपबन्धित करनेवाली कोई विधि किसी व्यक्ति को तीन महीने से अधिक कालावधि के लिये निरुद्ध कियाजाना प्राधिकृत तबतक न करेगी जबतक कि—(क) ऐसे व्यक्तियों से, जो उच्चन्यायालय के न्यायाधीश हैं, रह चुके हैं अथवा नियुक्त होने की अर्हता रखते हैं, मिलकर

बनीं मंत्रणा-मंडली ने तीन महीने की उक्त कालावधि की समाप्ति के पूर्व प्रतिवेदित नहीं किया है कि ऐसे निरोध के लिये उसकी राय में पर्याप्त कारण हैं :

परन्तु इस उपखण्ड की कोई बात किसी व्यक्ति के, उस अधिकतम् कालावधि से आगे, निरोध को अधिकृत न करेगी जो खण्ड (७) के उपखण्ड (ख) के अधीन संसद्-निर्मित किसी विधि द्वारा विहित की गयी है, अथवा (ख) ऐसा व्यक्ति खण्ड (७) के उपखण्ड (क) और (ख) के अधीन संसद्-निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अनुसार निरुद्ध नहीं है। (५) निवारक निरोध उपबन्धित करनेवाली किसी विधि के अधीन दिये गये आदेश के अनुसरण में जब कोई व्यक्ति निरुद्ध किया जाता है तब आदेश देनेवाला प्राधिकारी यथाशक्य शीघ्र उस व्यक्ति को जिन आधारों पर वह आदेश दिया गया है उनको बतायेगा तथा उस आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के लिये उसे शीघ्रातिशीघ्र अवसर देगा। (६) खंड (५) की किसी बात से आदेश देनेवाले प्राधिकारी के लिये ऐसे तथ्य को प्रकट करना आवश्यक नहीं होगा जिनका कि प्रकट करना ऐसा प्राधिकारी लोकहित के विरुद्ध समझता है। (७) संसद् विधि द्वारा विहित कर सकेगी कि — (क) किन परिस्थितियों के अधीन तथा किसप्रकार या प्रकारों के मामलों में किसी व्यक्ति को निवारक निरोध को उपबन्धित करनेवाली किसी विधि के अधीन तीन महीने से अधिक कालावधि के लिये खंड (४) के उपखंड (क) के उपबन्धों के अनुसार मंत्रणा-

मंडली की राय प्राप्त किये बिना निरुद्ध किया जासकेगा, ख) किस प्रकार या प्रकारों के मामलों में कितनी अधिकतम कालावधि के लिये कोई व्यक्ति निवारक निरोध उपबन्धित करनेवाली किसी विधि के अधीन निरुद्ध किया जासकेगा, तथा (ग) खण्ड (४) के उपखण्ड (क) के अधीन की जानेवाली जाँच में मंत्रणा-मंडली द्वारा अनुसरणीय प्रक्रिया क्या होगी।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

२३. (१) मानव का पण्य और बेट-बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबर्दस्ती लिया हुआ श्रम प्रतिषिद्ध किया जाता है और इस उपबन्ध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा। (२) इस अनुच्छेद की किसी बात से, राज्य को सार्वजनिक प्रयोजन के लिये बाध्य सेवा लागू करने में रुकावट न होगी। ऐसी सेवा लागू करने में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर राज्य कोई विभेद नहीं करेगा।

२४. चौदह वर्ष से कम आयुवाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान में नौकर न रखा जायगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जायगा।

धर्म-स्वातंत्र्य का अधिकार

२५. (१) सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए, सब व्यक्तियों को

अन्तःकरण की स्वतंत्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करनेका समान हक होगा। (२) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव अथवा राज्य के लिये किसी ऐसी विधि के बनाने में रुकावट न डालेगी जो —

क) धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन अथवा निर्बन्धन करती हो, (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो, अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिये खोलती हो।

व्याख्या १—कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जायगा। व्याख्या २— खण्ड (२) के उपखण्ड (ख) में हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिख, जैन या बौद्ध धर्म के माननेवाले व्यक्तियों का भी निर्देश अन्तर्गत है तथा हिन्दू-धर्म-संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ भी तदनुकूल ही किया जायगा।

२६. सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को—

(क) धार्मिक और पूर्त-प्रयोजनों के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण का, (ख) अपने धार्मिक कार्यों-सम्बन्धी विषयों के प्रबन्ध करने का, (ग) जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और

स्वामित्व का, तथा (घ) ऐसी सम्पत्ति के विधि-अनुसार प्रशासन करनेका, अधिकार होगा।

२७. कोई भी व्यक्ति ऐसे करों को देने के लिये वाध्य नहीं किया जायगा जिनके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिये विशेष रूप से विनियुक्त कर दिये गये हों।

२८. (१) राज्य निधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दीजायगी। (२) खण्ड (१) की कोई बात ऐसी शिक्षा संस्थापर लागू न होगी, जिसका प्रशासन राज्यकरता हो, किन्तु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है (३) राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्य-निधि से सहायता पानेवाली, शिक्षासंस्था में उपास्यत होनेवाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जानेवाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिये अथवा ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थानमें की जानेवाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिये वाध्य न किया जायगा, जबतक कि उस व्यक्ति ने, या यदि वह अवयस्क हो तो उसके संरक्षक ने, इसके लिये अपनी सम्मति न देदी हो।

संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार

२९ (१) भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष

भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखनेका अधिकार होगा। (२) राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने-वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इसमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जायगा।

३०. (१) धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यकवर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। (२) शिक्षा-संस्थाओं की सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधारपर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।

सम्पत्ति का अधिकार

३१ (१) कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायगा। (२) कोई स्थावर और जंगम सम्पत्ति, जिसके अन्तर्गत किसी वाणिज्यक या औद्योगिक उपकरण में या उसकी स्वामिनी किसी कम्पनी में कोई अंश भी है, ऐसी विधि के अधीन जो ऐसा कब्जा या अर्जन करने का प्राधिकार देती है, सार्वजनिक प्रयोजन के लिये कब्जाकृत या अर्जित तबतक नहीं कीजायगी जबतक कि वह विधि कब्जाकृत या अर्जित सम्पत्ति के लिये प्रतिकर का उपबन्ध न करती हो और या तो प्रतिकर की राशि को नियत न करदे या उन

सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख न करदे जिनसे प्रतिकर निर्धारित होना है और दिया जाना है। (३) राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी कोई ऐसी विधि, जैसे कि खण्ड (२) में निर्दिष्ट है, तबतक प्रभावी नहीं होगी जबतक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित कियेजाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गयी हो। (४) यदि इस संविधान के प्रारम्भपर किसी राज्य के विधानमण्डल के सामने किसी लम्बित विधेयक को, ऐसे विधानमण्डल द्वारा पार कियेजाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित किया जाता है तथा उसकी अनुमति मिल जाती है तो उस संविधान में किसी बात के होते हुए भी इस प्रकार अनुमत विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायगी कि वह खण्ड (२) के उपबन्धों का उल्लंघन करती है।

(५) खण्ड (२) की किसी बात से—

(क) ऐसी किसी विधि को छोड़कर जिसपर कि खण्ड (६) के उपबन्ध लागू होते हैं, किसी अन्य वर्तमान विधि के उपबन्धों पर, अथवा, (ख) एतत्पश्चात् राज्य जो कोई विधि—

(१) किसी कर या अर्थदण्ड के आरोपण या उद्ग्रहण के प्रयोजन के लिये बनाये उसके उपबन्धों पर, अथवा (२) सार्वजनिक स्वास्थ्यकी उन्नति के, अथवा प्राण या सम्पत्ति के संकट निवारण के लिये बनाये उसके उपबन्धों पर, अथवा (३) भारत डोमीनियन की अथवा भारत की सरकार और अन्य देश की सरकार के बीच किये गये करार के अनुसरण में, अथवा अन्यथा, जो

सम्पत्ति विधि द्वारा निष्क्राम्य सम्पत्ति घोषित की गयी है, उस सम्पत्ति के लिये बनाये उसके उपबन्धों पर,
प्रभाव नहीं होगा।

(६) राज्य की कोई विधि, जो इस संविधान के प्रारम्भ से १८ महीने से अनधिक पहिले अधिनियमित हुई हो, ऐसे प्रारम्भ से तीन महीने के अन्दर राष्ट्रपति के समक्ष उसके प्रमाणन के लिये रखी जासकेगी, तथा ऐसा होनेपर यदि लोक अधिसूचना द्वारा राष्ट्रपति ऐसा प्रमाणन देता है तो किसी न्यायालय में उसपर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायगी कि वह खण्ड (२) के उपबन्धों का उल्लंघन करती है अथवा भारत शासन अधिनियम १९३५ की धारा २९९ की उपधारा (२) के उपबन्धों का उल्लंघन कर चुकी है।

संविधानिक उपचारों के अधिकार

३२. (१) इस भाग द्वारा दियेगये अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये उच्चतम न्यायालय को समुचित कार्यवाहियों द्वारा प्रचालित करनेका अधिकार प्रत्याभूत किया जाता है। (२) इस भाग द्वारा दिये गये अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये उच्चतम न्यायालय को ऐसे निर्देश या आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख भी हैं, जो भी समुचित हो, निकालने की शक्ति होगी। (३) उच्चतम न्यायालय को खण्ड (१)

और (२) द्वारा दी गयी शक्तियों पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले, संसद् विधि द्वारा किसी दूसरे न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं के भीतर उच्चतम न्यायालय द्वारा खण्ड (२) के अधीन प्रयोग कीजानेवाली सब अथवा किसी शक्ति का प्रयोग करनेकी शक्ति देसकेगी। (४) इस संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित अवस्था को छोड़कर इस अनुच्छेद द्वारा प्रत्याभूत अधिकार निलम्बित न किया जायगा।

३३. संसद् विधि द्वारा निर्धारण कर सकेगी कि इस भाग द्वारा दियेगये अधिकारों में से किसीको सशस्त्र बलों अथवा सार्वजनिक व्यवस्था-भार वाले बलों के सदस्यों के लिये प्रयोग होने की अवस्था में किस मात्रातक निर्बन्धित या निराकृत किया जाये ताकि उनके कर्तव्यों का उचित पालन तथा उनमें अनुशासन बना रहना सुनिश्चित रहे।

३४. इस भाग के पूर्ववर्ती उपबन्धों में किसी बात के होते हुए भी संसद् विधि द्वारा संघ या राज्य की सेवा में के किसी व्यक्ति को, अथवा किसी अन्य व्यक्ति को, किसी ऐसे कार्य के विषय में तारणा देसकेगी जो उसने भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर किसी ऐसे क्षेत्र में, जहाँ सेना-विधि प्रवृत्त थी, व्यवस्था के बनाये रखने या पुनः स्थापन के सम्बन्ध में किया है अथवा ऐसे क्षेत्र में सेना-विधि के अधीन दिये गये किसी दण्डादेश, किये गये दण्ड, आदेश की हुई जब्ती, अथवा किये गये अन्य कार्य को मान्य कर सकेगी।

३५ इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी—

(क) संसद् को शक्ति होगी तथा किसी राज्य के विधान-मण्डल को शक्ति न होगी कि वह—

(१) जिन विषयों के लिये अनुच्छेद् १६ के खण्ड (३) अनुच्छेद ३२ के खण्ड (३), अनुच्छेद् ३३ और अनुच्छेद् ३४ के अधीन संसद् विधि द्वारा उपबन्ध कर सकेगी, उनमें से किसी के लिये, तथा

(२) इस भाग में अपराध घोषित कार्यों के दण्डविहित करने के लिये,

विधि बनाये तथा संसद् इस संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् यथा शीघ्र ऐसे कार्यों के लिये जो उपखण्ड (२) में निर्दिष्ट हैं दण्ड विहित करने के लिये विधि बनायेगी।

(ख) खण्ड (क) के उपखण्ड (१) में निर्दिष्ट विषयों में से किसी से सम्बन्ध रखनेवाली, अथवा उस खण्ड के उपखण्ड (२) में निर्दिष्ट किसी कार्य के लिये दण्ड का उपबन्ध करनेवाली, कोई प्रवृत्त विधि, जो भारत राज्य-क्षेत्र में इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले लागू थी, उसमें दिये हुए निबन्धनों के तथा अनुच्छेद् ३७२ के अधीन उसमें किये गये किन्हीं अनुकूलनों और रूपभेदों के अधीन रहकर ही तबतक प्रवृत्त रहेगी, जबतक कि वह संसद् द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित न की जाय।

व्याख्या—"प्रवृत्त विधि" पदावलि का जो अर्थ इस संविधान के अनुच्छेद् ३७२ में है, वही इस अनुच्छेद् में भी होगा।

मौलिक अधिकारों की कल्पना

भारतीय संविधान द्वारा ऊपर जिन मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है उनको लेकर एक ओर संविधान की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है तो दूसरी ओर तत्सम्बन्धी सीमाओं, प्रतिबन्धों एवं प्रणालियों की कटु आलोचनाएँ भी हुई हैं। पिछले दिनों कतिपय अनुच्छेदों, कतिपय खण्डों एवं उपखण्डों में जो संशोधन संसद द्वारा किये गये हैं—जिनका उल्लेख यथा-स्थान किया गया है—उनको लेकर संसद में यथेष्ठ विवाद हो चुका है। अनेक लोग जहाँ उक्त मौलिक अधिकारों के लिये संविधान की सराहना करते हैं, वहीं ऐसे लोग भी हैं जो संविधान की कतिपय धाराओं को प्रतिक्रियागामी मानते हैं और कितने ही लोगों का कथन है कि अनुच्छेद सम्बन्धी प्रतिबन्धों के कारण नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात होता है। एक ओर तो मौलिक अधिकारों की घोषणा की गयी है और दूसरी ओर उनके उपयोग के लिये इतनी शर्तें लगायी गयी हैं कि नागरिकों के लिये गणतंत्रात्मक जीवन विकसित करने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

संविधान द्वारा नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा का प्रश्न शताब्दियों से विवादग्रस्त रहा है और इसका इतिहास अत्यन्त मनोरंजक है।

मानव के स्वभावतः कुछ मूल-भूत अधिकार हैं जिनका संरक्षण आवश्यक है। शासनतंत्र सर्वथा निरंकुश न होजाय, इसके लिये जनता को सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। राज्य की शक्ति का मूल श्रोत जनता ही है, उसी से राष्ट्र की समस्त शक्तियों का उद्भव होता है। १२१५ ई० में इंग्लैण्ड के राजा जान रिचर्ड

की निरंकुशता से तंग आकर वहाँके नागरिकों ने विश्वविख्यात 'अधिकारपत्र' (Magna-charta) तैयार कर राजा के समक्ष उसे स्वीकार करने के लिये उपस्थित किया था। इसके बाद १६२८ ई० में उसी इंग्लैंड के नागरिकों ने पुनः एक अधिकार-पत्र (Bill of Rights) अपने नरेश चार्ल्स प्रथम के समक्ष उपस्थित किया था। १६८९ में जेम्स की निरंकुशता को अवरुद्ध करने के लिये पुनः एक दूसरा अधिकार-पत्र स्वीकृत किया गया। इसके बाद अमेरिका के लोगों तथा फ्रान्सीसी लोगों ने १७८९ ई० में अमेरिकन अधिकार-घोषणा (American Declaration of Rights) तथा मानव-अधिकार की घोषणा (Declaration of Rights of Man की।

जिस प्रकार पिछले दिनों राष्ट्रों एवं जातियों के अधिकारों की घोषणाएँ की गयीं, उसीप्रकार मानव तथा नागरिकों के लिये भी मौलिक अधिकारों की घोषणाएँ हुईं। अनेक उन्नत देशों ने उक्त अधिकारों को अपने विधानों के अन्तर्गत रखकर उन्हें वैधानिक एवं विधिवत मान्यताएँ प्रदान कीं।

भारत में ब्रिटिश शासनकाल में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सर्वथा उपेक्षा की गयी और कभी-कभी तो उनका सर्वथा दमन किया गया। राष्ट्रीय महासभा ने अनेक बार मौलिक अधिकारों की माँग की थी और उसके करांची अधिवेशन में एतद्विषयक एक प्रस्ताव भी पारित हुआ। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कभी मान्यता नहीं दी। गोलमेज परिषद् के अधि-

वेशनों में भी इसका प्रसंग उठाया गया किन्तु सरकार ने कुछ भी नहीं सुना! वह मौलिक अधिकारों को जिन कारणों से स्वीकार नहीं करना चाहती उनका उल्लेख संयुक्त पार्लमेण्टरी कमिटी (१६३४) की रिपोर्ट में उसने किया है। रिपोर्ट के पृष्ठ २१६ में लिखा है :—

"या तो अधिकारों की घोषणा इतनी निगूढ़ है कि उसका कोई भी कानूनी प्रभाव नहीं है अथवा इसका कानूनी प्रभाव यह होगा कि व्यवस्थापिका परिषद के अधिकारों पर ऐसा जटिल प्रतिबन्ध लग जायगा और इससे यह संगीन खतरा उत्पन्न हो सकता है कि जो विधि निर्मित हो, उसे, नागरिकों के विरुद्ध होनेपर, न्यायपालिका अवैध घोषित कर सकती है। यह भी एक आपत्ति है कि रियासतों ने स्पष्टतः घोषित कर दिया है कि मौलिक अधिकारों की कोई भी घोषणा रियासतों में लागू नहीं होगी। अतः यह विचित्र-सी स्थिति होगी कि संघ के केवल एक क्षेत्र में ऐसी घोषणा को कानूनी मान्यता प्राप्त हो।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि पार्लमेण्टरी कमिटी के उक्त दोनों ही तर्क निराधार हैं, किन्तु उनसे इतना तो प्रमाणित होही जाता है कि ब्रिटिश सरकार मौलिक अधिकारों के दमन के लिये सदैव ऐसा मार्ग खुला रखना चाहती थी. जिसपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाया जासके। उसके उक्त तर्कों से ही स्पष्ट होजाता है कि उसे अपनी विधि-व्यवस्थाओं को लेकर सदा यह आशंका थी कि वे न्यायपालिका द्वारा अवैध न घोषित कर दी जायें।

संयुक्त राष्ट्रमण्डल (U. N. O.) की जेनरल एसेम्बली ने १० दिसम्बर, १६४८ को मानव अधिकारोंकी एक घोषणा स्वीकृत की और सभी के लिये उसे घोषित कर दिया। तत्पश्चात् उक्त

एसेम्बली ने सभी सदस्य राष्ट्रों से अनुरोध किया कि वे उक्त घोषणाका विद्यालयों तथा अन्यान्य शिक्षा-संस्थाओं द्वारा प्रचार करें और इनके प्रचार में देश के राजनीतिक स्तर अथवा क्षेत्र को लेकर कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। उक्त घोषणापत्र में मानव के जिन मूल-भूत अधिकारों का उल्लेख किया गया है, उनका यदि वास्तव में सभी देशों में पालन किया जाय तो निश्चय ही मानव जाति का असीम कल्याण-साधन होगा।

किन्तु यथार्थ स्थिति तो यह है कि मौलिक अधिकारों की घोषणाओं से ही यह कल्याण-साधन सम्भव नहीं है, इसके लिये प्रभावी कार्य करने की आवश्यकता है। हमारे देश के संविधान में तो ऐसे मौलिक अधिकारों की घोषणा अभी कल हुई है, लेकिन अमेरिका जैसे देश में उक्त मौलिक अधिकार वहाँ के संविधान के प्रभावशाली अंग हैं। फिरभी वहाँ की वास्तविक स्थिति क्या है? अमेरिकन विधान के अन्तर्गत सभी नागरिक साम्य तथा समानाधिकार के अधिकारी हैं और वहाँ के हबशी नागरिकों के लिये भी वही सब मौलिक अधिकार हैं जो श्वेतांगों के लिये। किन्तु क्या श्वेतांगों के समान ही हबशी भी समान सुविधाओं का उपभोग कर सकते हैं? जेम्स ब्राइस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (American Commonwealth) में लिखा है—

The two races are everywhere taught in distinct schools and colleges, though in one or two places Negroes have been allowed to study

in Medical or Law classes. They worship in different churches........In concert halls and theatres, if the coloured are admitted at all, it is to an inferior part of the chamber.......civil justice is mostly fairly administered as between the races, but not criminal justice. In most parts of the South a white man would run little more risk of being hanged for murder of a Negro than a Mussalman in Turkey for the murder of a Christian.

अर्थात्—दोनों जातियों के लोग सर्वत्र पृथक-पृथक विद्यालयों और कालेजों में शिक्षा पाते हैं, यद्यपि एक दो स्थानोंपर हवशियों को चिकित्सा तथा कानून का अध्ययन साथ-साथ करने की आज्ञा देदी गयी है। वे विभिन्न गिरजाघरों में उपासना करते हैं······नृत्यशालाओं और रंगशालाओं में यदि उन्हें प्रवेश करने भी दिया जाता है तो शालाओं के निम्न भागों में ही। जातियों के बीच में दीवानी के मामलों में प्रायः न्याय होता है, किन्तु फौजदारी में नहीं। दक्षिण में श्वेतांग किसी हवशी की हत्या करने पर, टर्की में किसी ईसाई की हत्या करनेवाले मुसल्मान से कुछ ही अधिक फाँसी का खतरा उठाता है।

जेम्स ब्राइस की यह पंक्तियाँ १९२७ में लिखी गयीं थीं, अतः कहा जासकता है कि इसके बाद की स्थिति में सम्भवतः सुधार हुआ हो, किन्तु १९४९ में प्रकाशित होनेवाले प्रोफेसर लास्की के

ग्रन्थ (American Democracy) की निम्न पंक्तियों से पता चलता है कि स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी हुई है और अभागे हबशियों के भाग्य में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। लास्की ने लिखा है :

"Whatever be the small improvements made here and there in the treatment of the Negro, he is, in general, as ruthlessly exploited as the contempt and ingenuity of the South permits. He is exploited as citizen, as consumer, as producer.......Even for the educated or weathy Negro, the South is a prison......He is oppressed or repulsed at every turn. If he asserts his rights, he is arrogant; if he accepts humiliation, he is servile. Whether it be education or health, the place where he lives, or the place where he works, whether it is justice in the courts or justice in the legislature, the assumptions of Southern action are destructive of the very basis upon which the Negro can hope for fulfilment as a human being. There is no single vocation in which he does not suffer from being a Negro; there is no single environment in which be can hope, quite

simply, to give expression to his own personality. Even so tolerant and humane prsident as Franklin Roosevelt hardly dared do more than pay occassional verbal homage to the Negro claim to be treated as a rational human being ... There is discrimination against Negro patients in the hospitals, and there is similar discrimination against Negro medical students seeking hospital training.

अर्थात्—हबशी के प्रति होनेवाले व्यवहार में यत्र-तत्र थोड़े-बहुत सुधार जो भी हुए हों, आम तौर पर उसका निर्दय शोषण अवाधगति से, दक्षिण की घृणा तथा कल्पना के अनुसार, चालू है। नागरिक, उपभोक्ता, उत्पादक—किसी भी हैसियत से उसका शोषण जारी है। यहाँतक कि किसी शिक्षित एवं सभ्य हबशी के लिये भी दक्षिण कारागार के समान है···सर्वत्र वह प्रताड़ित एवं लांच्छित होता है। अगर वह अपने अधिकारों का दावा करे, तो वह अहम्मन्य और अगर वह अपमान सहन कर ले तो दास समझ लिया जाता है। शिक्षा हो अथवा स्वास्थ्य, उसका वासस्थान हो या कार्य का स्थान, अदालतों में न्याय का प्रश्न हो या व्यवस्थापिका में, दक्षिणवालों के मनोकल्पनानुकूल कार्य उसके उस आधार को ही ध्वस्त कर देते हैं जिनपर वह मानव के नाते अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा करता है। कोई भी कार्यक्षेत्र नहीं जिसमें उसे हबशी के नाते यातनाएँ नहीं सहनी पड़ें, कोई भी वातावरण नहीं है जिसमें वह अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की आशा

करसके। यहाँतक कि इतने सहिष्णु एवं मानववादी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट तक को हबशी के मानवोचित व्यवहार प्राप्त करने के दावे के प्रति शाब्दिक सराहना के अतिरिक्त और कुछ करने का साहस नहीं होसका। यहाँतक कि अस्पतालों तक में हबशी रोगियों के प्रति भेदभाव बरता जाता है और यही भेदभाव चिकित्सा शास्त्र के हबशी छात्रों के साथ अस्पतालों में शिक्षा प्राप्त करने के सिलसिले में बरता जाता है।

और सच तो यह है कि अमेरिका में ही केवल हबशियों के प्रति नहीं, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रिका तथा सर्वत्र रंगीन जातियों के प्रति ऐसाही दुर्व्यवहार आज भी चालू है। अतः केवल घोषणाओं द्वारा मानव की समानता प्रतिष्ठित नहीं की जासकती, इसके लिये प्रभावी कार्य करने की आवश्यकता है।

अमेरिका में जो हबशियों की स्थिति है और अन्यत्र जो रंगीन जातियों की स्थिति है, वैसी ही स्थिति हमारे देश में अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों की है। हमारे संविधान के अनुच्छेद १७ द्वारा 'अस्पृश्यता' तथा तज्जन्य अयोग्यताओं के अन्त की घोषणा कर दी गयी है और "अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" अनुच्छेद १४ तथा उसके खण्डों एवं उपखण्डों के अनुसार नागरिकों की कई निर्योग्यताओं एवं विभेदों का अन्त कर दिया गया है। यह विभेद जाति एवं धर्म के आधार पर ही रहे हैं और अस्पृश्यों को इनके कारण पग-पग पर अपमानित एवं लांच्छित होना पड़ा है। महा मानव गाँधी ने

इस स्थिति के विरुद्ध अभियान किया और लोगों की मनोवृत्ति में भारी परिवर्तन ला दिया; और अब विधान में इस विषय को सन्निहित कर निश्चयही विवेक का परिचय दिया गया है। किन्तु इन व्यवस्थाओं के अनुकूल आचरण न होनेपर वैसी ही स्थिति होगी जैसी स्थिति में वैधानिक एवं कानूनी समता सिद्धान्ततः प्राप्त होनेपर भी अमेरिका के हबशी पड़े हुए हैं। हमने कहा है, और हम बार-बार इसे कहना चाहेंगे और कहते रहेंगे कि कोरी विधान व्यवस्थाओं की घोषणाओं से ही सारी निर्योग्यताओं का अन्त नहीं हो जाता। गणतंत्र की विफलताओं के मूल कारण में सबसे बड़ा और प्रभावशाली तथ्य यह रहा है कि नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों की समता तो प्रदान कर दी जाती है, किन्तु उनके उपयोग एवं उपभोग के लिये जिस आर्थिक साम्य एवं समान सुविधाओं का होना अनिवार्य होता है, वे नहीं दी जातीं। हमारे देश के कोटि-कोटि अछूतों की अधिकांश दुरवस्थाओं का मूल कारण यह आर्थिक विषमता तथा उनका दैन्य दारिद्य रहा है और आज भी है। इसलिये हमारा संविधान यदि इस दिशा में कार्यकारी प्रमाणित नहीं होता तो इसके अधिकांश मौलिक अधिकार केवल इसके भीतर ही पड़े रहजायेंगे और देश के कोटि-कोटि नागरिकों के लिये इनकी कोई भी वास्तविक उपयोगिता नहीं होगी। हमारी संविधानिक विधि व्यवस्था इस दिशा में कितनी कृत-कार्य होसकेगी, इसमें सन्देह ही है।

और इस सन्देह का कारण यह है कि संविधान के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्थाओं का जो ढाँचा रखा गया है, उसमें व्यक्तिवाद की ही प्रधानता है। फलतः सामूहिक रूप में नागरिकों को तद्विषयक प्रोत्साहन देनेवाली प्रेरणाएँ प्राप्त होंगी, इसकी कम सम्भावना है। देश की समस्त पूँजी, समस्त साधनों और समस्त शक्तियों पर जब राष्ट्र का अधिकार होता है और समस्त नागरिक सामूहिक रूप में उसके अधिकारी एवं उपभोक्ता होते हैं तब उन्हें उत्पादन बढ़ाने, आर्थिक आधार पर जीवन स्तर उन्नत करने एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति के अर्जन एवं वृद्धि के लिये जो प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं, वे व्यक्तिवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं। हमारे संविधान के अनुच्छेद ३१ के अन्तर्गत :

"कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से बंचित नहीं किया जासकता (२) कोई स्थावर और जंगम सम्पत्ति, जिसके अन्तर्गत किसी वाणिज्य या औद्योगिक उपक्रम में या उसकी स्वामिनी किसी कम्पनी में कोई अंश भी है, ऐसी विधि से अधीन जो ऐसा कब्जा या अर्जन करने का अधिकार देती है, सार्वजनिक प्रयोजन के लिये कब्जाकृत या अर्जित तबतक नहीं की जायेगी जबतक कि वह विधि या कब्जाकृत या अर्जित सम्पत्ति के लिये प्रतिकर का उपबन्ध न करती हो और या तो प्रतिकर की राशि को नियत न करदे या उन सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख न करदे जिनसे प्रतिकर निर्धारित होता है और

दिया जाता है।" उक्त अनुच्छेद के उपखण्ड (३) और उपखण्ड (४) में एतद्विषयक और भी प्रतिबन्ध हैं, जो ऊपर दिये जाचुके हैं।

उक्त अनुच्छेद अमेरिका के संविधान के पाँचवें संशोधन के अनुसार है जिसमें कहा गया है :

"कोई व्यक्ति विधि के अधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जासकता। वैयक्तिक सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिये समुचित प्रतिकर के बिना नहीं ली जासकती।"

भारतीय शासन विधान १६३५, की धारा २६६ के अन्तर्गत भी वैसी ही व्यवस्था की गयी थी, जैसी उक्त ३१ वें अनुच्छेद में है, यद्यपि उसमें कम्पनियों के अंश आदि को लेकर व्यवस्था नहीं की गयी थी। अर्थ स्पष्ट है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में हम पूँजीवादी देश अमेरिका के अनुयायी हैं और १६३५ के शासन विधान में ब्रिटिश शासकों ने भारत में जिस प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति-सम्बन्धी व्यवस्था की, उससे अपने लोकतंत्रात्मक गण-राज्य में भी हम आगे नहीं बढ़ सके हैं। इस स्थल पर अब उक्त ३१ वें अनुच्छेद से सोवियट रूस की तद्विषयक विधि-व्यवस्था की तुलना कीजिये। सोवियट राष्ट्रसंघ के विधान में कहा गया है :—

"भूमि, इसके प्राकृतिक साधन जल, जंगल, मिलें, कारखाने, खदान, रेल, जल एवं गगन यातायात, बैंक, डाकघर, तारघर, टेलीफोन, राज्य संचालित विशाल कृषि उद्योग (राज्य के खेत; यंत्र और उनके स्टेशन तथा ऐसी अन्यान्य वस्तुएँ) नगरपालि-

काओं के उद्योग, नगरों के भवनों की पंक्तियाँ, औद्योगिक क्षेत्रों के भवन—यह सभी राज्य की सम्पत्ति हैं—अर्थात् समस्त जनता का उनपर अधिकार है।

इस प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी हमारे विचारों तथा सोवियट रूस की विधान-व्यवस्थाओं में मौलिक अन्तर है। वैयक्तिक सम्पत्ति द्वारा विपन्नों का जो आर्थिक शोषण जोरों से चला आरहा है और जिस पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पन्न उत्तरोत्तर सम्पन्नतर एवं विपन्न उत्तरोत्तर विपन्नतर होता जारहा है, उसकी गति को अवरुद्ध करना अनिवार्य है, यदि साधारण नागरिक के जीवनस्तर को उन्नत करना है, जिसका लक्ष्य हमारे संविधान द्वारा घोषित किया गया है। लक्ष्य घोषणाएँ निश्चयही उच्चादर्श पर प्रतिष्ठित हैं, किन्तु उन्हें कार्यरूप में चरितार्थ करने के लिये ऐसी विधि-व्यवस्थाओं की सृष्टि करनी होगी। जमींदारी उन्मूलन विधि-व्यवस्था इस दिशा में निश्चय ही एक सराहनीय प्रयास है, किन्तु केवल इतना ही आवश्यक नहीं है, इस दिशा में अभी और अग्रसर होने की आवश्यकता है।

संविधान का संशोधन

भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों को लेकर कई अभियोग न्यायालयों के सामने लाये गये। कलकत्ता, मद्रास, प्रयाग, पटना के उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय ने राज्यों द्वारा निर्मित कई विधियों अथवा उनके खण्डों, उपखण्डों को विधान

विहित व्यवस्थाओं के प्रतिकूल पाकर उनके अवैधानिक होने का निर्णय दिया। प्रधान मंत्री श्री नेहरू तथा विधि-सचिव डा० अम्बेदकर ने संसद् में वक्तव्य देते हुए कहा कि उक्त निर्णयों के कारण स्थिति जटिल हो चली है, अतएव कतिपय अनुच्छेदों में संशोधन अनिवार्य होचला है। मद्रास सरकार ने अनुसूचित जाति के लोगों के लिये सरकारी नौकरियों तथा शिक्षा-संस्थाओं में उनके प्रवेश के लिये संरक्षण देने के सम्बन्ध में आज्ञाएँ निकालीं। इन दोनों ही आज्ञाओं को लेकर दो मामले मद्रास हाईकोर्ट में आये और बाद को सुप्रीम कोर्ट के समक्ष। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से सरकार को सन्तोष नहीं हुआ। कानून-सचिव डा० अम्बेदकर ने विधान संशोधन के पक्ष में बोलते हुए संसद् में १८ मई, १९५१ को कहा,

"उच्चतम न्यायालय के दोनों ही निर्णयों को मैंने सावधानी से पढ़ा है किन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि उक्त निर्णय सर्वथा असन्तोषजनक हैं।...मेरे विचार से अनुच्छेद २९ (२), (जिसकी व्याख्या के आधार पर उक्त निर्णय किये गये हैं) में प्रयुक्त होनेवाला शब्द 'केवल' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। और मैं अत्यन्त सम्मानपूर्वक कहना चाहता हूँ कि इस 'केवल' शब्द पर उस प्रकार उतना विचार नहीं किया गया, जितना कि करना चाहिये था।... यहभी स्मरण रखना चाहिये कि राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद ४६ द्वारा सरकार ने अपने ऊपर कुछ उत्तरदायित्व लिये हैं... उदाहरणार्थ अनुसूचित जातियों के उत्थान का...अतएव न केवल सरकार पर, वरन् इस संसद पर भी उनके पालन का उत्तरदायित्व है। और

यदि इस उत्तरदायित्व की पूर्ति करनी है तो ऐसी व्यवस्था करनी ही पड़ेगी कि असुच्छेद २९ (२) और १६ (४) की ऐसा व्याख्या न की जासके, जैसी की गयी है। इसलिये अनुच्छेद १५ की आवश्यकता हुई।

तत्पश्चात् अनुच्छेद १६ से सम्बद्ध संशोधनों पर भाषण करते हुए डा० अम्बेदकर ने उच्चतम न्यायालय एवं प्रान्तीय उच्च न्यायालयों का उल्लेख करते हुए कहा कि उनके निर्णयों के कारण ही उक्त संशोधनों की आवश्यकता पड़ी। पूर्वी पंजाब हाई कोर्ट द्वारा निर्णीत, रामनाथ थापड़, ब्रजभूषण और मास्टर तारा सिंह के मामले तथा पटना और मद्रास हाईकोर्टों के निर्णयों का हवाला देते हुए डा० अम्बेदकर ने कहा :—

"मैं सदन से कहना चाहता हूं कि वह विचार कर देखे कि सुप्रीम कोर्ट तथा विभिन्न हाईकोर्टों के उक्त निर्णयों का नागरिकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अगर उक्त विधियों के बहुत से अनुच्छेद सुप्रीम कोर्ट तथा हाईकोर्टों से अवैध घोषित कर दिये जायें, जैसा कि उक्त न्यायालयों द्वारा किया गया है, तो देश की क्या स्थिति होगी ?

प्रेस ऐक्ट की धारा ४ के अन्तर्गत पत्रों की स्वाधीनता तथा भाषण की स्वतंत्रता पर इस प्रकार प्रतिबन्ध लगाये जासकें कि अपराध, हत्या और हिंसा को प्रोत्साहन वे न देसकें, इसके लिये प्रान्तीय सरकारों के अधिकार थे। और सुप्रीम कोर्ट तथा हाईकोर्टों के फैसले मान्य ठहरा लिये जायें तो क्या सदस्यों को इस बात से सन्तोष होगा कि देश में प्रत्येक व्यक्ति को विधान की कृपा से हत्या और हिंसा के प्रचार का अधिकार प्राप्त हो जायगा ? तब सार्वजनिक सुव्यवस्थाओं की रक्षा किस प्रकार होगी ? और तब राष्ट्र की ही

सुरक्षा किस प्रकार होगी ? इसलिये संसद को इस बात का अधिकार रहना चाहिये कि वह सार्वजनिक सुव्यवस्था एवं राष्ट्र की सुरक्षा के लिये विधि निर्माण कर सके। यदि संसद को ऐसा अधिकार नहीं दिया गया तो सुप्रीम कोर्ट तथा हाईकोर्टों ने विधान की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार अनियंत्रित वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के कारण देश में अशान्ति फैल जायगी। इसलिये अनुच्छेद १९ में संशोधन आवश्यक है। अमेरिका के संविधान में यद्यपि वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर कोई बाह्य प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है किन्तु राष्ट्र की सुरक्षा के हितों के अनुकूल वहाँ की सुप्रीम कोर्ट ने अपना निर्णय देकर उनपर नियंत्रण लगा दिया है। किन्तु हमारे देश की स्थिति ही विचित्र है। हमारे मूल अधिकार हैं और हमने उनकी सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं, और फिर भी हमारा सर्वोच्च न्यायालय और हमारे प्रान्तीय उच्च न्यायालय कहते हैं कि हम मूल-अधिकारों को सीमित नहीं करेंगे।

संशोधन का विरोध

संविधान (प्रथम संशोधन) विधेयक पर संसद में तथा उसके बाहर यथेष्ठ मतमतान्तर व्यक्त किया गया। पत्रों की स्वाधीनता पर कुठाराघात होनेवाली व्यवस्थाओं की कटु आलोचना हुई और अखिलभारतीय पत्रसम्पादक सम्मेलन ने एक स्वर से उसका विरोध किया। प्रवर समिति के सदस्यों में भी विधेयक तथा उसकी धाराओं पर मतभेद रहा। किन्तु समिति का बहुमत उसके पक्ष में रहा। सरकार ने उसे स्वीकार करलिया

और संसद् के समक्ष वह उपस्थित किया गया। आचार्य कृपलानी, पंडित हृदयनाथ कुंजरू, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी तथा जनाब नजीरुद्दीन अहमद उसके कटु आलोचक रहे। विधेयक असामयिक, अनावश्यक, अवांछनीय एवं संसद् द्वारा जिस प्रणाली द्वारा पारित किया गया उसे आपत्तिजनक एवं अवैधानिक बताया गया। फिर भी विधेयक २२८ के पक्ष एवं २० के विपक्षी मतों से स्वीकृत हुआ। विधेयक निम्न रूप में अधिनियमित किया गया :—

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम १९५१

१. **नाम**—यह अधिनियम संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम १९५१ कहा जायगा।

२. **संविधान के अनुच्छेद १५ का संशोधन**—अनुच्छेद १५ में निम्न खण्ड संयुक्त कर दिया जायगा :

"(४) इस अनुच्छेद अथवा अनुच्छेद २९ के खण्ड (२) के कारण राज्य को सामाजिक अथवा शिक्षासम्बन्धी किन्ही पिछड़े हुए नागरिकों अथवा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के उत्थान के लिये किसी विशेष उपबन्धको निर्मित करने में कोई बाधा नहीं होगी।

३. **संविधान के अनुच्छेद १९ का संशोधन और अनुच्छेद १९ की कतिपय विधियों (१) की मान्यता :**

(क) उपखण्ड (२) के स्थान पर निम्न खण्ड समझा जाय और उक्त खण्ड सदाही अधिनियमित किया हुआ समझा जायगा, यथा :—

"(२) खण्ड (१) के उपखण्ड (क) के कारण किसी वर्तमान विधि के प्रयोग पर कोई वाधा नहीं होगी और न तो उसके कारण राज्य को ऐसी किसी विधि के निर्माण में, जिससे उक्त उपखण्ड द्वारा प्रदत्त अधिकारों पर, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के मैत्री-सम्बन्ध, सार्वजनिक सुव्यवस्था, सदाचार अथवा नैतिकता, साथ ही न्यायालय अवमान, अपमान-वचन अथवा हिंसोत्तोजना सम्बन्धी किसी वर्तमान अथवा अन्य विधि, के हितों के अनुकूल किसी प्रकार का युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने में रुकावट होगी।

(ख) खण्ड (६) के "उक्त खण्ड के उपखण्ड (६)" से लेकर "बनाने में राज्य के लिये रुकावट, न डालेगी" पर्यन्त के स्थान पर निम्न रहेगा :

उक्त उपखण्ड की किसी बात से राज्य को किसी विधि के निर्माण अथवा किसी वर्तमान विधि के प्रयोग पर निम्न विषयों में किसी के सम्बन्ध में, कोई रुकावट नहीं होगी—

(१) किसी उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के लिये आवश्यक वृत्तिक या शिल्पिक अर्हताओं, अथवा

(२) राज्य द्वारा अथवा राज्य के स्वामित्व अथवा नियत्रण में किसी निगम द्वारा, किसी व्यापार, कारबार उद्योग या जनसेवा-उद्योग, नागरिकों को आंशिक अथवा सर्वथा पृथक रखते हुए अथवा अन्यथा—के सम्बन्ध में।

(३) सविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत राज्य-क्षेत्र में कोई भी प्रवृत विधि जो वर्तमान उपखण्ड (१) द्वारा सशोधित अनुच्छेद १९ के उपबन्धों से सगत होगी, वह केवल इस आधार पर अवैध नही समझी जायगी अथवा वह कभी भी अवैध रही, यह भी नही समझा जायगा, क्योंकि

उससे उक्त अनुच्छेद के खण्ड (१) के उपखण्ड (क) द्वारा प्रदत्त अधिकारों का बंचन अथवा अल्पीकरण होता है, उक्त अनुच्छेद के उपखण्ड (२) द्वारा, जैसा कि मूलतः अधिनियमित किया गया, इसका प्रयोग रक्षित नहीं किया गया।

उपखण्ड की व्याख्या—इस उपखण्ड में 'प्रवृत्त विधि' का वैसा ही अर्थ होगा जैसा कि संविधान के १३ वें अनुच्छेद में।

४. संविधान में अनुछेद ३१ के पश्चात् एक नया अनुच्छेद ३१ क जोड़ दिया जायगा और यह अनुच्छेद सदा से संयुक्त हुआ समझा जायगा – यथा :

इस भाग के पूर्व वर्ती उपबन्धों में किसी बात के होते हुए भी राज्य द्वारा किसी सम्पदा अथवा उसमें निहित किसी अधिकार के अर्जन अथवा उसकी समाप्ति अथवा उसमें परिवर्तन करने के लिये निर्मित कोई विधि इस आधार पर शून्य नहीं समझी जायगी कि इसके कारण इस भाग द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार का बंचन अथवा अल्पीकरण होता है या उससे असंगत है।

परन्तु—

यदि ऐसी विधि किसी राज्य द्वारा निर्मित हुई हो तो इस विधि के उपबन्ध तबतक लागू नहीं होंगे जबतक कि वह विधि राष्ट्रपति के समक्ष विचारार्थ रक्षित होनेपर उनकी अनुमति न प्राप्त होजाय। (२) इस अनुच्छेद में (क) 'सम्पदा' का अर्थ किसी स्थानीय क्षेत्र के प्रसंग में वही समझा जायगा जो अर्थ उसके स्थानीय क्षेत्र में इस शब्द का अथवा इसके पर्यायिबाची किसी शब्द का उस क्षेत्र में भूमि सम्बन्धी वर्तमान प्रवृत्त विधि में समझा जाता है। (ख) सम्पदा-सम्बन्धी 'अधिकार' के अन्तर्गत स्वामित्व, उप

स्वामित्व; अधीनस्थ स्वामित्व, भूमिधर के अधिकार तथा भूमि-राजस्व सम्बन्धी सुविधाएँ और अधिकार होंगे।

५ **अनुच्छेद ३१ ख का प्रवेशन।**

विभाग ४ द्वारा प्रवेशित अनुच्छेद ३१ क के पश्चात् निम्न अनुच्छेद संयुक्त किया जायगा, यथा :

अनुच्छेद ३१ ख : कतिपय अधिनियमों की मान्यता।

अनुच्छेद ३१ क के अन्तर्गत सामान्यतः किसी भी उपबन्ध के होते हुए भी अनुसूची ९ अथवा उसके अन्तर्गत के उपबन्ध शून्य नहीं समझे जायेंगे अथवा वे कभी भी शून्य रहे हों, ऐसा नहीं समझा जायगा, केवल इस आधार पर कि ऐसे अधिनियम अथवा उपबन्धों द्वारा इस भाग के उपबन्धों द्वारा प्रदत्त किन्हीं अधिकारों का बंचन अथवा अल्पीकरण होता है और इस बात के होते हुए भी कि किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण की आज्ञप्ति अथवा आदेश विपरीत हों, उक्त अधिनियमों का प्रत्येक अधिनियम, किसी क्षमतापूर्ण विधानमण्डल द्वारा निरमित अथवा संशोधित होने की शर्त के साथ प्रवृत्त रहेगा।

अधिकार की सीमा

उक्त संशोधन द्वारा नागरिकों के वाक्-स्वातन्त्र्य तथा अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सीमा निर्धारित करदी गयी है। उक्त स्वतन्त्रताओं का उपभोग करते समय व्यक्ति को इस सीमा के अन्तर्गत रहना होगा कि वह न्यायालय का अपमान न करे, नैतिकता एवं सदाचार के विरुद्ध न कहे, राष्ट्र की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न न हो और जिन देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध हो, उनके विरुद्ध ऐसी अपमानजनक बात न कहे कि उस सम्बन्ध

पर आघात हो। एतद्विषय विधि-व्यवस्था करने का अधिकार राज्यों को दिया गया है। विदेशों के साथ मैत्रीसम्बन्ध के विषय में विधि-व्यवस्था का अधिकार संसद् को ही देना चाहिये था, क्योंकि इसका सम्बन्ध राज्यों से नहीं, संघ से ही है, किन्तु प्रधानमंत्री ने इसमें कानूनी अड़चनें देखीं, इसलिये एतद्विषयक श्रीमती दुर्गा बाई (प्रवर समिति की सदस्या) के मत को स्वीकार नहीं किया। अमेरिका के संविधान के संशोधन १-१४ द्वारा बोलने और लिखने की पूर्ण स्वाधीनता दी गयी है और उसके आधार पर हमारे संविधान के उक्त संशोधन की कटु आलोचनाएँ हुईं, किन्तु यह सत्य नहीं है कि वहाँ की स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है। वहाँ के उच्चतम न्यायालय ने अनेक बार संविधान की व्याख्या की है और यह सीमा निर्धारित करदी है कि स्वतन्त्रता का दुरुपयोग निश्चय ही दुष्परिणाम उत्पन्न करेगा।

ब्लैकस्टोन ने ठीक ही लिखा है कि—

"प्रत्येक स्वतंत्र व्यक्ति को इस बात की स्वाधीनता है कि वह अपनी भावनाओं को अबाध रूप में व्यक्त करे किन्तु यदि वह किसी ऐसी बात का प्रकाशन करता है जो अनुचित, दुष्टतापूर्ण अथवा अवैध हो, तो उसे उसका दुष्परिणाम भुगतना ही पड़ेगा।"

जस्टिस ओलिवर वेण्डेल हाल्म्स ने १९१९ में श्नेक के मुकद्मे के सिलसिले में कहा था—

"वाक्-स्वातन्त्र्य का बड़ा-से-बड़ा अधिकार रहनेपर भी किसी व्यक्ति की

रक्षा नहीं की जासकती यदि वह मिथ्या प्रलाप करके कि रंगमंच में आग लग गयी है, आतंक फैला दे।"

इस बात के लिये अत्यधिक तर्कों एवं तथ्यों की आवश्यकता नहीं है कि वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य को अबाध, सीमाहीन, अथवा अनियंत्रित नहीं रखा जासकता। स्वतंत्रता की ऐसी सीमाएँ निश्चय ही निर्धारित करनी पड़ेंगी। ऐसी अनियंत्रित छूट नहीं दी जासकती कि राष्ट्र की सुरक्षा के लिये खतरनाक सम्भावनाएँ उत्पन्न हों। यह बात और है कि हमारे संविधान के उक्त संशोधन की इस समय आवश्यकता थी या नहीं और जिस प्रणाली से संशोधन किया गया वह आपत्तिजनक है या नहीं। संविधान संशोधन के लिये संविधान के अनुच्छेद ३६८ में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख है। उसके अनुसार 'इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिये विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जायगा। कम-से-कम आधों के विधानमण्डलों का—अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।" उक्त अनुच्छेद की प्रक्रिया के बिना संशोधन की वैधता निश्चय ही संशयास्पद होगी। जिन दो सदनों का उल्लेख किया गया है, उनकी अभी प्रतिष्ठा नहीं हुई है। तो उक्त संशोधन की वैधता किस आधार पर प्रमाणित होगी? संविधान के भाग २१ के अन्तर्गत अनुच्छेद ३७६ में अन्तर्कालीन संसद तथा उसके अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के बारे में उपबन्ध हैं। उक्त अनुच्छेद के अनुसार "जबतक कि इस संविधान के उपबन्धों के

अधीन संसद् के दोनों सदन सम्यक रूप से गठित न हो जायें, अन्तर्कालीन संसद् होगा तथा इस संविधान के उपबन्धों द्वारा संसद् को दी गयी सब शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करेगा।" इस प्रकार जिस संविधान द्वारा संसद् को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनके अनुसार उसी संविधान में संशोधन करने का अधिकार अस्थायी और अन्तर्कालीन व्यवस्था के अन्तर्गतवाले उपबन्धों के अनुसार है या नहीं, यह भी सर्वथा निर्विवाद नहीं : इस विवाद के अतिरिक्त प्रश्न व्यावहारिकता का यह है कि कुछ ही महीनों के पश्चात् संविधान के उपबन्धों के अधीन दोनों सदन सम्यक रूपसे गठित हो जायेंगे और कोई आपातकाल भी अभी नहीं उपस्थित है, अतः उक्त संशोधन अनिवार्य नहीं था। फिर भी, जैसा कि प्रधानमंत्री ने कहा है, कि आपातकाल, वर्तमान राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितयों को देखते हुए किसी समय भी उपस्थित हो सकता है, और साथ ही उक्त संशोधन के उपबन्धों द्वारा केवल नये अधिनियमों की क्षमता संसद् को दी गयी है, स्वतः अधिनियम नहीं उपस्थित किये गये हैं। यह तर्क केवल अंशतः सही है, सर्वांशतः नहीं, क्योंकि संशोधन द्वारा अनेक अधिनियमों को प्रवृत्त विधि की श्रेणी में घोषित होने की व्यवस्था करदी गयी है।

अमेरिका और भारत—

भारतीय संविधान में अन्य देशों की अपेक्षा अमेरिका के

संविधान के कतिपय उपबन्धों के समान, उपबन्ध रखे गये हैं। मौलिक अधिकारोंवाला भाग विशेषतः अमेरिका के संविधान और उसमें होनेवाले परवर्ती संशोधनों द्वारा प्रभावित है। अनुच्छेद १४ अमेरिका के संविधान के संशोधन १४ के अनु-सनुसार, तथा अनुच्छेद १५ भी उसी संशोधन के अनुसार, भारतीय स्थिति की अपनी आवश्यकताओं के अनुसार रखे गये हैं। अंनुच्छेद १. अमेरिका के संविधान की धारा १ की उपधारा ८ के अनुसार है। जर्मनी के वीमर विधान के अनुच्छेद १०९ के उपबन्ध भी प्रायः ऐसे ही हैं। हमारे संविधान का अनु-च्छेद १९, संशोधित रूप में अत्यधिक व्यापक कर दिया गया है किन्तु अमेरिका के संविधान की धारा ३ की उपधारा ३ के अनु-सार राजद्रोह, राष्ट्र के विरुद्ध युद्धरत होने तथा शत्रुओं को सहा-यता और सुविधा देनेतक ही सीमित कर दिया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद २० के उपबन्ध अमेरिकन संविधान के संशोधन ५ के अनुसार हैं। २१ वाँ अनुच्छेद भी प्रायः उसी के संशोधन ४ के अनुसार है। अनुच्छेद २१ द्वारा वैयक्तिक स्वतंत्रता सम्बन्धी जो उपबन्ध हैं, वही २२ वें अनुच्छेद में भी उल्लिखित हैं। इनके आधार अमेरिका के संविधान के संशोधन ४ और ६ हैं। किन्तु ६ ठा संशोधन उक्त अनुच्छेद से अधिक व्यापक है—उसके द्वारा अनुच्छेद की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। अनुच्छेद २३ अमेरिका के संविधान के संशोधन १३ के अनुसार है। उक्त संशोधन वहाँ की दासत्व प्रथा के निराकरण

के लिये किया गया था। अमेरिका के संविधान के संशोधन ५ में निहित सिद्धान्त के अनुसार भारतीय संविधान का अनुच्छेद ३१ है किन्तु इसमें प्रथम संशोधन १९५१ के अनुसार यथेष्ठ परिवर्तन कर दिये गये हैं। इन परिवर्तनों का उल्लेख ऊपर किया जाचुका है। अमेरिका के संविधान के संशोधन ५ के अनुसार "वैयक्तिक सम्पत्ति का अर्जन बिना 'समुचित' प्रतिकर के निषिद्ध है।" जर्मन विधान की धारा १५३ के अन्तर्गत भी 'यथेष्ठ' प्रतिकर देने की व्यवस्था है; किन्तु हमारे संविधान के उक्त अनुच्छेद में 'समुचित' अथवा 'यथेष्ठ' किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसमें विधानमंडल जो प्रतिकर निर्धारित करे, वही समझा जायगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अमेरिका के संविधान से हमारे संविधान में अनेक मौलिक अधिकार, मूलतः अथवा संशोधनों अथवा उपबन्धों के साथ लिये गये हैं। फिर भी उसके कतिपय महत्व के मौलिक अधिकार हमारे संविधान में नहीं है, यथा :

१ शस्त्रास्त्र का अधिकार, (संशोधन २)

२. शान्तिकाल में सैनिकों के आश्रय के विरुद्ध अधिकार (संशोधन ३)

३. अयुक्तिसंगत तलाशियों और जब्तियों के सिलसिले में गृह कागजात और वस्तुओं की सुरक्षा (संशोधन ४)

४. अत्यधिक अर्थदण्ड और असाधारण दण्डादेश का निषेध (अनुच्छेद ८)

संविधान में जिन मूल-अधिकारों का उल्लेख है, उनके सम्बन्ध में सभी व्यक्तियों का तत्सम्बन्धी आदेश; निर्णय, व्याख्या और संरक्षण की व्यवस्था उच्चतम न्यायालय से प्राप्त करने का अधिकार है और संविधान में उल्लिखित स्थितियों के अतिरिक्त, उन्हें स्थगित नहीं किया जासकता। विधानमण्डल की समुचित प्रक्रिया द्वारा, अनुच्छेद ३६८ के अनुसार अथवा अनुच्छेद ३५६ के अनुसार आपातकाल की घोषणा की स्थिति में ही उन्हें स्थगित किया जासकता है। संविधान प्रथम संशोधन १६५१ के अनुसार मूल अधिकारों को अपेक्षाकृत संकीर्ण कर दिया गया है।

तेरहवाँ अध्याय

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

३६. यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस भाग में "राज्य" का वही अर्थ है जो इस संविधान के भाग ३ में है।

३७. इस भाग में दिये गये उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जासकेगी किन्तु तो भी इनमें दिये हुए तत्व देश के शासन में मूल-भूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।

३८. राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य-साधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करे।

३९ राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—(क) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्य्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो, (ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, (ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे

धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिये अहितकारी केन्द्रण न हो, (घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिये समान वेतन हो, (ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों, (च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

४०. राज्य ग्राम-पंचायतों का संगठन करने के लिये अग्रसर होगा, तथा उनको ऐसी शक्तियाँ तथा अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिये आवश्यक हों।

४१. राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त करने का कार्यसाधक उपबन्ध करेगा।

४२ राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिये तथा प्रसूति-सहायता के लिये उपबन्ध करेगा।

४३. उपयुक्त विधान या आर्थिक संघटन द्वारा, अथवा और किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि के, उद्योग के या अन्य

प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह-मजूरी शिष्टजीवन-स्तर, तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करनेवाली काम की दशायें तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर-उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।

४४ भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिये राज्य एक समान व्यवहार-संहिता प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।

४५. राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था-समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिये उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।

४६. राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकारों के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

४७. राज्य अपने लोगों के आहार पुष्टितल और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा लोक-स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों में से मानेगा तथा विशेषतया स्वास्थ्य के लिये हानिकर मादक पेयों और औषधियों के औषधीय प्रयोजनों से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिरोध करने का प्रयास करेगा।

४८. राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संघटित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतः गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारु और बाहकढोरों की नस्ल के परिरक्षण और सुधारने के लिये तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिये अग्रसर होगा।

४९ संसद से विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्ववाले घोषित कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचिवाले प्रत्येक स्मारक, या स्थान या चीज का यथास्थिति लुंठन, विरूपन, विनाश, अपनयन, व्ययन अथवा निर्यात से रक्षा करना राज्य का आभार होगा।

५०. राज्य की लोक-सेवाओं में, न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिये राज्य अग्रसर होगा।

५१ राज्य—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का, ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का, (ग) संघटित लोगों के, एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि-बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का, तथा (घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मध्यस्थता द्वारा निबटारे के लिये प्रोत्साहन देने का,

प्रयास करेगा।

नियामक सिद्धान्तों की उपयोगिता

राज्य के जिन निदेशक तत्वों अथवा नियामक सिद्धान्तों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे, जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, केवल निदेशक तत्वमात्र हैं। अनुच्छेद ३७ में स्पष्ट कर दिया गया है कि उक्त सिद्धान्तों

की मान्यता के लिये किसी नागरिक को न्यायपालिका की सहायता नहीं मिल सकती। फिर भी उक्त सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व राज्य पर है, ऐसा स्पष्ट कर दिया गया है। डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था, "इन तत्वों को लेकर बड़ा भ्रम है। हमने राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना की है और हमारा लक्ष्य आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना भी है। यह कहा जाता है कि निदेशक तत्वों की मान्यता के लिये कोई कानूनी बल नहीं हैं, यह मैं स्वीकार करने के लिये तैयार हूँ, किन्तु यह स्वीकार करने के लिये मैं बिल्कुल तैयार नहीं हूं कि उनके पीछे कोई बल ही नहीं है और वे सर्वथा व्यर्थ हैं। उक्त निदेशकपत्र उन आदेशपत्रों के समान हैं जो भारतीय शासन विधान १९३५ के अन्तर्गत गवर्नर जेनरल तथा गवर्नरों के लिये दिये गये थे।" उक्त निदेशक तत्वों में राज्य के ऐसे चरम लक्ष्य का निर्देश किया गया है जिसकी पूर्ति होनेपर आदर्श सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना लोकतंत्रात्मक गणराज्य भारत में होसके। अतएव आदर्श एवं लक्ष्य के रूप में तो उनकी उपयोगिता अवश्य है, किन्तु व्यवहार में उनकी कोई तात्कालिक उपयोगिता सन्देहास्पद ही है। साथ ही इस प्रकार की व्यवस्थाएँ संविधान में नहीं रहा करतीं। इन सारे तत्वों को पढ़ने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी राजनीतिक दल के निर्वाचित घोषणापत्र हों। इसमें वर्णित अनेक व्यवस्थाएँ अधिनियमों के योग्य हैं, न कि संविधान के। फिर भी आवश्यकतानुसार उनका उपयोग किया जासकता है, जैसा कि संविधान (प्रथम संशोधन) के विधेयक के समर्थन में डा॰ अम्बेदकर ने उक्त निदेशक तत्वों का हवाला देते हुए कहा था कि उनके अनुसार राज्य पर उन्हें यथाशक्य कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व है। जो भी हो, उक्त निदेशक तत्व संविधान के लिये बहुत उपयुक्त नहीं हैं, यद्यपि उनमें निहित लक्ष्यों की पूर्ति यदि होसके और उनके आधार पर यदि समाज का पुनर्गठन सम्भव हो तो निश्चय ही वह एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था होगी।

चौदहवाँ अध्याय

संघ : कार्यपालिका

राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति

५२ भारत का एक राष्ट्रपति होगा ।

५३ (१) संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। (२) पूर्वगामी उपबन्ध की व्यापकता पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले संघ के रक्षाबलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित होगा और उसका प्रयोग विधि से विनियमित होगा। (३) इस अनुच्छेद की किसी बात से—(क) जो कृत्य किसी वर्तमान विधि ने किसी राज्य की सरकार अथवा अन्य अधिकारी को दिये हैं वे कृत्य राष्ट्रपति को हस्तान्तरित किये हुए न समझे जायेंगे, अथवा (ख) राष्ट्रपति के अतिरिक्त अन्य प्राधिकारियों को विधि द्वारा कृत्य देने में संसद को बाधा न होगी ।

५४ राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक-गण के सदस्य करेंगे जिसमें—(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य; तथा (ख) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य; होंगे ।

५५. (१) जहाँतक व्यवहार्य हो, राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व एकसे मापमान से होगा।

(२) राज्यों में आपस में एक ऐसी एकरूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिये संसद् तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभा का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य इस निर्वाचन में जितने मत देनेका हक़दार है उनकी संख्या नीचे लिखे प्रकार ऐसे निर्धारित की जायगी—

(क) किसी राज्य की विधानसभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे, जितने कि एक हजार के गुणित, उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से, भाग देने से आये; (ख) एक हजार के उक्त गुणितों को लेने के बाद यदि शेष पाँचसौ से कम न हो तो उपखण्ड (क) में उल्लिखित प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जायगा; (ग) संसद् के प्रत्येक सदन के प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या वही होगी जो उपखण्ड (क) तथा (ख) के अधीन राज्यों की विधानसभाओं के लिये नियत सम्पूर्ण मत-संख्या को, संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आये, जिसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जायगा, तथा अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जायगी।

(३) राष्ट्रपति का निर्वाचन, अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति के

अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा तथा ऐसे निर्वाचन में मतदान गूढ़शलाका द्वारा होगा।

व्याख्या—इस अनुच्छेद में "जनसंख्या" से; ऐसी अन्तिम पूर्वगत जन-गणना में, निश्चित की गयी जनसंख्या अभिप्रेत है, जिसके तत्सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित हो चुके हैं।

५६. (१) राष्ट्रपति अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा :

परन्तु—

(क) राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा; (ख) संविधान का अतिक्रमण करनेपर राष्ट्रपति अनुच्छेद ६१ में उपबन्धित रीति से किये गये महाभियोग द्वारा पद से हटाया जासकेगा; (ग) राष्ट्र-पति अपने पद की अवधि समाप्त होजानेपर भी अपने उत्तरा-धिकारी के पद-ग्रहण तक पद धारण किये रहेगा।

(२) खण्ड (१) के परन्तुक के खण्ड (क) के अधीन उपराष्ट्रपति को सम्बोधित किसी त्यागपत्र की सूचना उसके द्वारा लोक-सभा के अध्यक्ष को अविलम्ब दी जायगी।

५७ कोई व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण कर रहा है अथवा करचुका है, इस संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, उस पद के लिये पुनर्निवाचन का पात्र होगा।

५८. (१) कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा जबतक कि वह—

(क) भारत का नागरिक न हो; (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो; तथा (ग) लोक-सभा के लिये सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न रखता हो।

(२) कोई व्यक्ति जो भारतसरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियंत्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हुए है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा।

व्याख्या—इस खण्ड के प्रयोजन के लिये कोई व्यक्ति कोई लाभ का पद धारण किये हुए केवल इसीलिये नहीं समझा जायगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति अथवा किसी राज्य का राज्यपाल या राज प्रमुख है अथवा संघ या किसी राज्य का मंत्री है।

५९. (१) राष्ट्रपति न तो संसद् के किसी सदन का, और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा तथा यदि संसद् के किसी सदन का, अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का, सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाये तो यह समझा जायगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद-ग्रहण की तारीख से रिक्त कर कर दिया है। (२) राष्ट्रपति अन्य कोई लाभ का पद धारण न करेगा (३) राष्ट्रपति को, बिना किराया दिये, अपने पदावासों का हक्क होगा तथा उसको उन उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों

का भी, जो संसद् निर्मित विधि द्वारा निर्धारित किये जायें तथा जबतक उसमें इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता तबतक ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी, जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं, हक होगा। (४) राष्ट्रपति की उपलब्धियों और भत्ते उसके पद की अवधि में घटाये नहीं जायेंगे।

६०. प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है अपने पद-ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के प्राप्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष निम्नरूप में शपथ या प्रतिज्ञान करेगा और इसपर अपने हस्ताक्षर करेगा, अर्थात्—

> मैं ...... अमुक, ... ईश्वर की शपथ लेता हूं / सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूं कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति का कार्यपालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूर्ण योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूंगा।

६१. (१) संविधान के अतिक्रमण के लिये, जब राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाना हो, तब संसद् का कोई सदन दोषारोप करेगा। (२) ऐसा कोई दोषारोप तबतक नहीं किया जायगा,

जबतक कि (क) ऐसे दोषारोप के करने की प्रस्थापना, किसी संकल्प में न हो, जो कम-से-कम चौदह दिन की ऐसी लिखित सूचना के दिये जाने के पश्चात् प्रस्तुत किया गया है, जिसपर उस सदन के कम-से-कम एक चौथाई सदस्यों ने हस्ताक्षर करके उस सङ्कल्प को प्रस्तावित करने का विचार प्रकट किया है, तथा (ख) उस सदन के समस्त सदस्यों के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत से ऐसा सङ्कल्प पारित न किया गया हो।

(३) जब दोषारोप संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार किया जाचुके तब दूसरा सदन उस दोषारोपण का अनुसन्धान करेगा या करायेगा तथा इस अनुसंधान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा।

(४) यदि अनुसंधान के फलस्वरूप राष्ट्रपति के विरुद्ध किये गये दोषारोप की सिद्धि को घोषित करनेवाला सङ्कल्प दोषारोप के अनुसन्धान करने या करानेवाले सदन के समस्त सदस्यों के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो ऐसे सङ्कल्प का प्रभाव उसकी पारणा तिथि से राष्ट्रपति का अपने पद से हटाया जाना होगा।

६२. (१) राष्ट्रपति की पदावधि से समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन अवधि समाप्ति से पूर्व ही पूर्ण कर लिया जायगा। (२) राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन, रिक्तता होने की तारीख के पश्चात्

यथा सम्भव शीघ्र और हर अवस्था में छ मास बीतने के पहिले किया जायगा, तथा रिक्तता-पूर्ति के लिये निर्वाचित व्यक्ति अनुच्छेद ५६ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की पूरी अवधि के लिये पद धारण करने का हक़दार होगा।

उपराष्ट्रपति

६३. भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा।

६४. उपराष्ट्रपति, पदेन, राज्य-परिषद् का सभापति होगा तथा अन्य किसी लाभ का पद धारण न करेगा :

परन्तु जिस किसी कालावधि में उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है अथवा अनुच्छेद ६५ के अधीन राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करता है तब वह राज्य-परिषद् के सभापति-पद के कर्तव्यों को न करेगा तथा उसे अनुच्छेद ९७ के अधीन राज्य-परिषद् के सभापति को दिये जानेवाले किसी वेतन अथवा भत्ते का हक़ न होगा।

६५. (१) राष्ट्रपति की मृत्यु, पद-त्याग अथवा पद से हटाये जाने अथवा अन्य किसी कारण से उसके पद की हुई रिक्तता की अवस्था में उपराष्ट्रपति उस तारीख तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा जिस तारीख को कि इस अध्याय के ऐसे रिक्तता-पूर्ति सम्बन्धी उपबन्धों के अनुसार निर्वाचित नया राष्ट्रपति अपने पद को ग्रहण करता है। (२) अनुपस्थिति, बीमारी अथवा अन्य

किसी कारण से जब राष्ट्रपति अपने कृत्यों को करने में असमर्थ हो, तब उपराष्ट्र पति उसके कृत्यों का निर्बहन उस तारीख तक करेगा जिस तारीख को कि राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों को फिरसे संभाले। (३) उपराष्ट्रपति उस कालावधि में और उस कालावधि के सम्बन्ध में, जब कि वह राष्ट्रपति के रूप में इस प्रकार कार्य करता है, अथवा उसके कृत्यों का निर्बहन कर रहा है, राष्ट्रपति की सब शक्तियाँ और उन्मुक्तियाँ होंगी, तथा उसे ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का, जिन्हें संसद विधि द्वारा निश्चित करे, तथा जबतक उस विषय में इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता तबतक ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का, जो द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं, हक्क होगा।

६६. (१) संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन होगा तथा ऐसे निर्वाचन में मतदान गूढ़ शलाका द्वारा होगा।

(२), (३) और (४) तथा व्याख्या के उपबन्ध वैसे ही हैं, जैसे कि राष्ट्रपति के सम्बन्ध में।

६७. उपराष्ट्रपति अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा :

परन्तु—(क) उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा, अपना पद त्याग सकेगा; (ख) उप-

राष्ट्रपति, राज्य परिषद् के ऐसे सङ्कल्प द्वारा, अपने पद से हटाया जासकेगा जिसे परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत ने पारित किया हो तथा जिसे लोक-सभा ने स्वीकृत किया हो, किन्तु इस खण्ड के प्रयोजन के लिये कोई भी सङ्कल्प तबतक प्रस्तावित न किया जायगा जबतक कि उसे प्रस्तावित करने के अभिप्राय की सूचना कम-से-कम चौदह दिन पूर्व न दे दी गयी हो; (ग) उपराष्ट्रपति, अपने पद की अवधि समाप्त होजाने पर भी, अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक पद धारण किये रहेगा।

६८- (१) उपराष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन अवधि-समाप्ति से पूर्व ही पूर्ण करलिया जायगा। (२) उपराष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग अथवा पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिये निर्वाचन रिक्तता होने की तारीख के पश्चात यथा सम्भव शीघ्र किया जायगा तथा रिक्तता-पूर्ति के लिये निर्वाचित व्यक्ति अनुच्छेद ६७ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अपने पद-ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की पूरी अवधि के लिये पद धारण करने का हक़दार होगा।

६९. प्रत्येक उपराष्ट्रपति अपने पद-ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा उस लिये नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष निम्न रूप में शपथ या प्रतिज्ञान करेगा, अर्थात्—

"मैं, ... अमुक, ... ईश्वर की शपथ लेता हूं / सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूं कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करनेवाला हूं उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।"

७० इस अध्याय में उपबन्धित न की हुई किसी आकस्मिकता में राष्ट्रपति के कृत्यों के निर्वहन के लिये संसद जैसा उचित समझे उपबन्ध बना सकेगी।

७१. (१) राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सब शंकाओं और विवादों की जाँच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा। (२) यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति रूप में निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उसके द्वारा यथास्थिति राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय की तारीख को या उस से पूर्व किये गये कार्य उस घोषणा के कारण अमान्य न होजायेंगे। (३) इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बद्ध या संसक्त किसी विषय का विनियमन संसद विधि द्वारा कर सकेगी।

७२. (१) किसी अपराध के लिये सिद्ध दोष किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने की अथवा

दण्डादेश का निलम्बन, परिहार या लघूकरण की राष्ट्रपति को—(१) उन सब अवस्थाओं में जिनमें कि दण्ड अथवा दण्डादेश सेना-न्यायालय ने दिया हो; (ख) उन सब अवस्थाओं में जिनमें जिनमें कि दंड अथवा दंडादेश ऐसे विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिये दिया गया हो जिस विषय तक संघ की कार्यपालिका का विस्तार है; (ग) उन सब अवस्थाओं में जिनमें कि दंडादेश मृत्यु का हो, शक्ति होगी।

(२) खण्ड (१) के उपखण्ड (क) की कोई बात संघ के सशस्त्र बलों के किसी पदाधिकारी की सेना-न्यायालय द्वारा दिये गये दंडादेश के निलम्बन, परिहार या लघूकरण की विधि द्वारा दी गयी शक्ति पर प्रभाव नहीं डालेगी। (३) खण्ड (१) के उपखण्ड (ग) की कोई बात किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन राज्य के राज्यपाल या राज प्रमुख द्वारा प्रयोग को जानेवाली मृत्यु-दण्डादेश के निलम्बन, परिहार या लघूकरण की शक्ति पर प्रभाव नहीं डालेगी।

७३ (१) इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार—(क) जिन विषयों के सम्बन्ध में संसद को विधि बनाने की शक्ति है उस तक; तथा (ख) किसी सन्धि या करार के आधार पर भारत सरकार द्वारा प्रयोग किये जानेवाले अधिकारों, प्राधिकार और क्षेत्राधिकार के प्रयोग तक,

होगा।

परन्तु इस संविधान में अथवा संसद् द्वारा बनाई गयी किसी विधि में, स्पष्टतापूर्वक उपबन्धित स्थिति के अतिरिक्त उपखण्ड (क) में उल्लिखित कार्यपालिका शक्ति का विस्तार प्रथम अनुसूची के भाग (क) या भाग (ख) में उल्लिखित किसी राज्य में ऐसे विषयों तक न होगा जिनके बारे में उस राज्य के विधानमण्डल को भी विधि बनाने की शक्ति है।

(२ जबतक संसद् अन्य उपबन्ध न करे, तबतक इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी कोई राज्य तथा राज्य का कोई पदाधिकारी या प्राधिकारी उन विषयों में जिनके सम्बन्ध में संसद् को उस राज्य के लिये विधि बनाने की शक्ति है ऐसी कार्यपालिका शक्ति का या कृत्यों का प्रयोग करता रह सकता है जैसे कि वह राज्य या इसका पदाधिकारी या प्राधिकारी इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले कर सकता था।

राष्ट्रपति : पद, मर्यादा और शक्ति—

भारतीय संविधान के उक्त उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रपति को संघ की कार्यपालिका के सभी अधिकार प्राप्त हैं। उसका पद सर्वोच्च सत्तासम्पन्न है, उसकी मर्यादा सर्वोपरि है और संविधान द्वारा स्वयं उसकी जो सीमाएँ हैं, उनके अतिरिक्त उसकी शक्ति असीम है। साधारणकाल के अतिरिक्त उसकी आपात शक्तियाँ हैं जिन्हें कितने ही आलोचकों ने तानाशाही जैसा अधिकार कहकर उसे अवांछनीय बताया है। तीन प्रकार की आपातकालों की कल्पना की गयी है—युद्ध अथवा आन्तरिक अशान्तियों के कारण, राज्यों में सांवि-

धानिक तंत्र की विफलता और वित्तीय आपात। इन आपातों के स्वरूप एवं तद्विषयक राष्ट्रपति के अधिकारों की चर्चा यथास्थान की गयी है। जर्मनी के वीमर विधान तथा अमेरिका के विधान में भी आपातकाल के लिये विशेष व्यवस्थाएँ हैं। अमेरिका की कांग्रेस को नागरिकों के मौलिक अधिकारों को नियंत्रित, सीमित एवं स्थगित करने का अधिकार है, यद्यपि उसकी वैधता वहाँ के उच्चतम न्यायालय के अधीन है। उक्त न्यायालय को इस बात के विनिश्चय करने का अधिकार है कि जिन परिस्थितियों को आपात काल कहकर मौलिक अधिकारों को स्थगित किया गया है, वे वास्तव में वैसी हैं या नहीं। ठीक इसी प्रकार की परिस्थिति अमेरिका में १९३० में उत्पन्न होगयी थी, जब कि कांग्रेस ने नेशनल इंडस्ट्रियल ऐक्ट पास किया था। उस ऐक्ट को अवैध, अतः शून्य घोषित करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा था :—

"आपातकाल शक्ति उत्पन्न नहीं करता, दी हुई शक्ति में वृद्धि नहीं करता और न तो दी हुई अथवा संरक्षित शक्ति के प्रतिबन्धों को ही कम करता है, यद्यपि आपातकाल प्रस्तुत शक्ति के असाधारण प्रयोग के लिये कारण प्रदान कर सकता है।"

प्रोफेसर के० टी० शाह ने आपातकाल-सम्बन्धी राष्ट्रपति के अधिकारों को अवांछनीय बताते हुए संविधान सभा में तत्सम्बन्धी विवाद के अवसर पर कहा था :—

"आपातकाल सम्बन्धी यह उपबन्ध संविधान के सबसे अधिक प्रतिक्रियागामी अध्याय के सिर मौर हैं।"

श्री हरिविष्णु कामथ ने इसपर आपत्ति उठाते हुए कहा था :—

"लोकतंत्रात्मक ढाँचे का यह सबसे ऊँचा प्रतिक्रियावादी छत्र है।"

राष्ट्रपति में कार्यपालिका की जो सर्वोच्च शक्तियाँ निहित हैं, उनकी यद्यपि इतनी आलोचना हुई है किन्तु वास्तव में राष्ट्रपति के उक्त अधिकार मंत्रिपरिषद के हैं, क्योंकि यद्यपि संविधान में यह कहीं नहीं कहा गया है कि राष्ट्रपति मंत्रि परिषद की सलाह मानने के लिये बाध्य है, तथापि ऐसी प्रथा प्रचलित करने का प्रयत्न है कि राष्ट्रपति स्वेच्छाचारिता न करके, इंग्लैंड के सम्राट की भाँति मंत्रिपरिषद की सलाह से ही कार्य करें। इसलिये भारत के राष्ट्रपति का पद यद्यपि अमेरिका के राष्ट्रपति के पद के समान है किन्तु उसे ब्रिटेन के सम्राट के समान ही मर्यादा दी गयी है और उसकी कार्यपालिका शक्ति भी प्रथा द्वारा निश्चित होगी। ब्रिटेन की सरकार सम्राट की सरकार कही जाती है और सम्राट को ही कार्यपालिका के सारे अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु वह केवल राज्य करता है, शासन नहीं; शासन तो मंत्रिमण्डल करता है और जहाँ मंत्रिमंडल के साथ उसका मतभेद हुआ वहाँ सम्राट को पदत्याग करना पड़ा है। कहने के लिये तो मंत्रिमंडल सम्राट को परामर्श देता है और प्रधानमंत्री की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती है, किन्तु प्रथानुसार प्रधानमंत्री बहुमत प्राप्त दल का होता है और उसके नेतृत्व में संयुक्त रूपेण मंत्रिमंडल पार्लमेण्ट के समक्ष उत्तरदायी होता है। ब्रिटिश वैधानिक इतिहास में ऐसे कठोरतम प्रसंग आये हैं जब सम्राट ने अपनी सत्ता का उपयोग करने का निश्चय और मंत्रिमंडल द्वारा प्रदत्त परामर्शों की अवहेलना की है, किन्तु ऐसी स्थितियों में जनता ने सदा ही सम्राट को या तो मंत्रिमंडल के अनुसार चलने को बाध्य किया है या उसे पदच्युत होना पड़ा है। फिर भी सम्राट के पद और व्यक्तित्व का प्रभाव सर्वथा व्यर्थ नहीं रहा है, उसे मान्यताएँ प्राप्त हैं। विधान-वेत्ता प्रोफेसर कीथ ने लिखा है —

"राजकीय गौरव, चिरकालीन राजतंत्र तथा परम्परागत प्रभाव के कारण मंत्रिमंडल तथा प्रधान मंत्री में सम्राट के प्रति ऐसी यथेष्ट भावना और उनकी आस्था पायी जाती है जैसी किसी भी अन्य वैधानिक प्रधान को प्राप्य नहीं है।"

भारतीय राष्ट्रपति के लिये यही उपयुक्त है कि सर्वाधिकार रखते हुए भी वह ब्रिटिश शासनपद्धति की तत्सम्बन्धी व्यवस्थाओं का अनुसरण करे। श्री अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर, सदस्य संविधान लेखन समिति, ने इसीलिये कहा था कि मंत्रि परिषद द्वारा संयुक्त उत्तरदायित्व के पालन के बीच में राष्ट्रपति को टाँग नहीं अड़ानी चाहिये।

अमेरिका के राष्ट्रपति की स्थिति भारतीय राष्ट्रपति से भिन्न है। उसका निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है और चार साल तक वह स्वेच्छापूर्वक शासन करता है, नीति निर्धारित करता है और अपने मंत्रिमंडल का निर्माता, भाग्य-विधाता—सबकुछ वही है। उसके अतिरिक्त उसका मंत्रिमंडल किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है और किसी मंत्री को अपदस्थ करने के लिये उसे पूर्ण स्वाधीनता है, इस प्रश्न पर वैधानिक संकट की आशंका नहीं। राष्ट्रपति का बहुमत प्राप्त होना भी अनिवार्य नहीं है और न तो उसके किसी विधेयक की स्वीकृति अथवा अवैधता के कारण उसका पदत्याग ही अनिवार्य है। ब्रिटिश सम्राट की भाँति वह दलों से ऊपर नहीं, वह दल विशेष का ही उम्मेदवार होकर निर्वाचित होता है। उसकी शक्ति और क्षमता की सीमा, सिद्धान्ततः नहीं, कार्यतः भी विधान ही स्थिर करता है और उसका अतिक्रमण वह नहीं कर सके, इसके लिये उच्चतम न्यायालय के अबाध अधिकार हैं और वही विधान-व्याख्या के लिये सर्वोत्तम सत्ता है। वह सीधे जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि है। हमारे राष्ट्रपति का निर्वाचन परोक्ष रीति से है, क्योंकि सिद्धान्ततः

कार्यपालिका की सर्वोच्च सत्ता उसमें निहित है, किन्तु कार्यतः उक्त सत्ता के उपयोग की क्षमता और उत्तरदायित्व उसकी मंत्रि-परिषद् पर है। अमेरिका के राष्ट्रपति की भाँति भारत के राष्ट्रपति पर भी महाभियोग की व्यवस्थाएँ संविधान में हैं। अमेरिका में महाभियोग लोकप्रतिनिधि-सभा द्वारा सीनेट में लाया जाता है किन्तु भारतीय संविधान द्वारा संसद के दोनों ही सदनों को इसका अधिकार दिया गया है। उपराष्ट्रपति पर महाभियोग लाने की व्यवस्था नहीं है। किन्तु अमेरिका के संविधान के अनुसार राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा सभी असैनिक अफसरों पर, "देशद्रोह, घूसखोरी तथा अन्य महा अपराधों और अनुचित आचरणों" के लिये लाया जासकता है। हमारे राष्ट्रपति पर केवल संविधान के अतिक्रमण के ही आधार पर महाभियोग चल सकता है। इस 'संविधान के अतिक्रमण' की व्याख्या संविधान में कहीं नहीं है।

अमेरिका के संविधान ने ही राष्ट्रपति को अत्यधिक अधिकार दे दिये हैं। समय-समय पर कांग्रेस ने, परिस्थिति विशेष में, जैसा कि १९३३ में डालर के मूल्यांकण एवं स्वर्णमान को लेकर और १९४१ में युद्ध-रसद देने के सम्बन्ध में 'उधार पट्टे' को लेकर राष्ट्रपति को दिया है। उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों से कहीं उसके अधिकार सीमित हुए हैं, तो कहीं बढ़े भी हैं। क्षमादान, आम रिहाई, प्राधिकारियों के निष्कासन, आदि के सम्बन्ध में, जहाँ विधान मौन था, वहाँ उक्त न्यायालय के विनिश्चयों से उसकी क्षमता-सीमा का विस्तार हुआ है। राष्ट्रपति थियोडर रूजवेल्ट ने ऐसे व्यापक अधिकारों को देखते हुए एक बार कहा था कि, "राष्ट्रपति राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिये कुछ भी कर सकता है, जबतक कि वह संविधान अथवा विधि द्वारा निषिद्ध न हो।" देखिये मुनरो का अमेरिका का शासन पृष्ठ १८७, ८८, ९५ (Munro : The Government of the United States. PP. 187, 88 तथा 195.)

निर्वाचन—

"राष्ट्रपति का निर्वाचन परोक्ष विधि से एक निर्वाचकगण द्वारा होगा जो राज्यों के विधानमंडलों और संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनेगा। निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा। राष्ट्रपति नाममात्र का प्रमुख होने के कारण, उसका प्रत्यक्ष निर्वाचन करना अनावश्यक समझा गया। राष्ट्रपति के निर्वाचन में किसी राज्य के विधानमंडल का कोई सदस्य कितने मत देने का हकदार होगा, इसका निर्धारण जिस रीति से किया जायगा, वह संविधान में दिये गये निम्न उदाहरण से स्पष्ट होजायगी।

"बम्बई की जनसंख्या २,०८,४९,८४० है। हम बम्बई की विधानसभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या २०८, अर्थात् जनसंख्या के प्रति एक लाख पर एक सदस्य मान लेते हैं। इस प्रकार निर्वाचित प्रत्येक सदस्य जितने मत देने का हकदार होगा उनकी संख्या प्राप्त करने के लिये हमें पहले २,०८,५९,८४० (जनसंख्या) को २०८ (निर्वाचित सदस्यों की संख्या) से भाग देना पड़ेगा। और फिर भागफल को १००० से भाग देना होगा। इस उदाहरण में भागफल १,००, २३९ आया। अब प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को १,००, २३९÷१००० अर्थात् १०० मत देने का हक होगा (शेष २३९ को छोड़ दिया गया है, क्योंकि वह ५०० से कम था)।

संसद अर्थात् केन्द्रीय विधानमंडल के दोनों सदनों का प्रत्येक सदस्य जितने मत देने का हकदार होगा उनकी संख्या, राज्यों के विधानमंडलों या धारा सभाओं के सब निर्वाचित सदस्यों द्वारा दिये जानेवाले मतों की समस्त संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग देने से प्राप्त होगी।

"निर्वाचन की एकल संक्रमणीय मत द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (Proportional reprentation by single transferable vote) यह है कि जितने व्यक्ति निर्वाचित करने होते हैं, उनकी संख्या से निर्वाचकों की संख्या को भाग दे दिया जाता है। जितना भागफल आवे, उतने मत जिस अभ्यर्थी या उम्मेदवार को मिल जायेंगे, वह निर्वाचित समझा जायगा। उदाहरणार्थ, यदि १०० निर्वाचकों को १० प्रतिनिधि चुनने हों तो प्रत्येक प्रतिनिधि को १० मत प्राप्त करने पड़ेंगे। प्रत्येक निर्वाचक अपने मत-पत्र में दस उम्मेदवारों का नाम अपनी पसन्द के क्रम से लिख देगा, अर्थात् उसकी पसन्द में पहला नम्बर किसको, दूसरा किसको, तीसरा किसको मिलना चाहिये इत्यादि लिख देगा। इस प्रकार मतगणना में जिन अभ्यर्थियों या उम्मेदवारों को दस निर्वाचकों ने अपनी पसन्द में प्रथम स्थान दिया होगा, वे निर्वाचित मान लिये जायेंगे। जिन निर्वाचकों का मत इस प्रकार निर्वाचित अभ्यर्थियों के निर्वाचन में काम में नहीं आयेगा उनके मतपत्रों में छांटा जायगा कि नम्बर दो की पसन्द पर किस-किस अभ्यर्थी का नाम लिखा गया है। इस प्रकार जिनको दस-दस मत मिल जायेंगे वे भी निर्वाचित मान लिये जायेंगे यही क्रम आगे चलता रहेगा। इस पद्धति में निर्वाचक का मत संक्रमित होजाता है और निर्वाचितों को केवल सब निर्वाचकों की संख्या के अनुपात से मत प्राप्त करने होते हैं, इसलिये इसका नाम एकल संक्रमणीय मत द्वारा

अनुपाती प्रतिनिधित्व रखा गया है।" (हमारा संविधान, पृष्ठ ५१—५२)

राष्ट्रपति की 'असमर्थता'—

अनुच्छेद ६५ के खण्ड (२) में उपबन्ध है कि "किसी कारण से जब राष्ट्रपति अपने कृत्यों को करने में असमर्थ हों" इत्यादि। राष्ट्रपति की इस असमर्थता को लेकर अमेरिका के संविधान की विचित्र स्थिति है। डा० विलोबी ने अमेरिका की संविधानिक विधि (United States Constitutional law PP. 1470—71) में इस स्थिति की जटिलता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि संविधानिक उपबन्धों तथा १७९२ और १८८६ के अधिनियमों द्वारा भी यह स्थिति नहीं सुलझती, क्योंकि राष्ट्रपति के कृत्यों के सम्बन्ध में उसकी 'असमर्थता' की व्याख्या कहीं नहीं की गयी। राष्ट्रपति यदि बीमार पड़जाय, दुर्घटना का शिकार होजाय अथवा पागल होजाय तो क्या किया जाय ? परिस्थिति की यह जटिलता इस कारण से है कि राष्ट्रपति की असमर्थता में उपराष्ट्रपति को, उसकी अनुमति के बिना स्वतः, सांविधानिक उपबन्धों के अनुसार, राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्बहन करने का अधिकार नहीं है। मुनरो ने भी इस विषय का उल्लेख अपने उक्त ग्रन्थ में किया है। अनेक बार राष्ट्रपति की स्थिति में उपराष्ट्रपतियों ने उसके कृत्यों का निर्बहन किया है, किन्तु उसकी 'असमर्थता' का प्रश्न हल नहीं हुआ, क्योंकि यद्यपि गारफील्ड, विल्सन जैसे राष्ट्रपति अस्वस्थता अथवा देश से बाहर रहने के कारण अपने कृत्यों के करने में असमर्थ रहे किन्तु उपराष्ट्रपति को उक्त स्थितियों में उनकी उक्त असमर्थताओं के कारण कृत्य निर्वहन का अवसर नहीं

दिया गया। भारतीय संविधान में इस समस्या का समाधान अनुच्छेद ६५ के खण्ड (२) के उपबन्धों द्वारा कर दिया गया है। किन्तु यदि राष्ट्रपति 'असमर्थ' होते हुए भी अपने पद पर ही अड़ा रह जाय और स्वेच्छापूर्वक उपराष्ट्रपति को कृत्य निर्वहन का अधिकार न दे, तो उस स्थिति में क्या होगा? 'असमर्थता' की कोई व्याख्या या परिभाषा नहीं है, तो 'असमर्थता' का निश्चय कौन करे? और कौन इसकी घोषणा करे?

मुनरो ने इसका एक उपाय बताया है। उसका कहना है कि कांग्रेस के संयुक्त प्रस्ताव के आधार पर उपराष्ट्रपति एक उद्घोषणा करे कि राष्ट्रपति की असमर्थता के कारण उसके कृत्यों के निर्वहन का भार उपराष्ट्रपति पर आ पड़ा है। और तब जब 'असमर्थता'-सम्बन्धी तथ्यों पर आपत्ति उठायी जाय तो न्यायालय इसका निर्णय करे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

मंत्रि-परिषद्

७४. राष्ट्रपति को अपने हकों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिये एक मंत्रि-परिषद् होगी जिनका प्रधान प्रधान-मंत्री होगा। (२) क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई मंत्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच न की जायगी।

७५. (१ प्रधान-मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान-मंत्री की मंत्रणा पर करेगा। (२) राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त मंत्री अपने पद धारण करेंगे। (३) मंत्रिपरिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। (४) किसी मंत्री के अपने पद ग्रहण करने से पहिले राष्ट्रपति उससे तृतीय अनुसूची में इसके लिये दिये हुए प्रपत्रों के अनुसार पद की तथा गोपनीयता की शपथें करायेगा। (५) कोई मंत्री जो निरन्तर छ मास की किसी कालावधि तक संसद के किसी सदन का सदस्य न रहे उस कालावधि की समाप्ति पर मंत्री न रहेगा। (६) मंत्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होंगे जैसे, समय-समय पर, संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे तथा जबतक संसद् इस प्रकार निर्धारित न करे, तबतक ऐसे होंगे जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं।

राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद्—

यद्यपि कार्यपालिका की सर्वोच्च सत्ताएँ राष्ट्रपति में निहित हैं, किन्तु उनका उपयोग करने की प्रणाली और अधिकार वस्तुतः मंत्रिपरिषद में निहित है। इंग्लैंड में सम्राट बहुमत प्राप्त दल के नेता को मंत्रिमण्डल के गठन पर 'परामर्श देने' के लिये आमंत्रित करता है, किन्तु प्रथा द्वारा यह परामर्श स्वीकार करने की बाध्यता-जैसी है, और यही व्यवहारिक भी है, क्योंकि यदि सम्राट ऐसा नहीं करे तो पार्लमेंट में अन्य मंत्रिमंडल—अल्पमत में होने के कारण अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा अविलम्ब हटा दिया जायगा।

मंत्रियों का संयुक्त उत्तरदायित्व—

मंत्रि-परिषद का उत्तरदायित्व पार्लमेण्ट के समक्ष संयुक्त है। मंत्री, परिषद से मतभेद होनेपर त्यागपत्र देकर अपनेको पृथक कर सकता है, किन्तु जबतक वह मंत्रि-परिषद में है तबतक वह यह नहीं कह सकता कि अमुक बात का उत्तरदायित्व उसपर नहीं है। लार्ड सैलिसबरी ने लिखा है:—

"मंत्रि-परिषद में जोकुछ भी होता है, उसके प्रत्येक सदस्य पर, यदि वह त्यागपत्र देकर पृथक नहीं हो जाता तो, पूर्णरूपेण और अकाट्य उत्तरदायित्व है और वह बाद को यह नहीं कह सकता कि उसने, किसी प्रश्न पर समझौता कर लिया और किसी प्रश्न पर सहयोगियों की खातिर वह सहमत होगया। मंत्रिपरिषद के प्रत्येक सदस्य पर यह जो संयुक्त उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है, उसी के कारण पार्लमेण्ट (संसद) के समक्ष उसकी जिम्मेदारी है और यह संसदीय उत्तरदायित्व का एक अत्यावश्यक सिद्धान्त है।"

अमेरिका की मंत्रि-प्रणाली—

फर्गुसन और मैकहेनरी ने अपनी पुस्तक 'शासन की अमेरिकन पद्धति'

(The American System of Government) में, वहाँ मंत्रि-मण्डल की प्रथा कैसे चली, इसका बड़ा मनोरंजन इतिहास लिखा है। अमेरिका के प्रथम सीनेट ने जब राष्ट्रपति वाशिंगटन के लिये 'सलाहकार' मनोनीत करने में आनाकानी की तब वाशिंगटन ने विभिन्न विभागों के प्रधानों को बुला-बुलाकर मंत्रणा करना प्रारम्भ किया और पुनः उन्हें एक साथ आमंत्रित कर मंत्रणा लेने का क्रम बना लिया। बाद को यही प्रथा मंत्रि-परिषद् के रूप में विकसित हुई।

भारत की वर्तमान व्यवस्था—

भारत में मंत्रियों के लिये संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा विकसित हो रही है। मंत्रि-परिषद् का प्रत्येक सदस्य अपने विभाग का प्रधान होता है। उसके नीचे उपमंत्री भी होसकते हैं। वर्तमान में संघ के लिये निम्न मंत्रि-विभाग स्थिर किये गये हैं—(१) गृह, (२) पर-राष्ट्र, (३) रक्षा, (४) शिक्षा, (५) स्वास्थ्य, (६) राजस्व, (७) उद्योग और वाणिज्य, (८) श्रम, (९) यातायात, (१०) रेल, (११) सूचना और ब्राडकास्टिंग, (१२) विधि (१३) निर्माण, खान और विद्युत और (१४) पुनर्वास।

७८. प्रधान मंत्री का—

(क) संघ-कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी मंत्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयों तथा विधान के लिये प्रस्थापनाएँ राष्ट्रपति को पहुंचाने का;

(ख) संघ कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी तथा विधान विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राष्ट्रपति मँगावे, उसको देने का; तथा

(ग) किसी विषय को, जिसपर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया हो, किन्तु मंत्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, राष्ट्रपति की अपेक्षा करने पर परिषद् के लिये विचार के लिये रखने का,

कर्तव्य होगा ।

प्रधानमंत्री—

मंत्रि-मण्डल द्वारा शासन की प्रणाली में प्रधान मंत्री की स्थिति, पद, मर्यादा एवं अधिकार बहुत महत्वपूर्ण हैं । मंत्रि-परिषद की नीति का निर्धारण बहुतकुछ उसीपर निर्भर करता है । उसके दृष्टिकोण से राष्ट्र की नीति प्रभावित होती है और जबतक वह संसद का विश्वास-भाजन बना हुआ है तबतक उसका पद सुरक्षित है । संसद के प्रति उसका उत्तरदायित्व उसे स्वेच्छाचारी होने से बचाता है और संसद का विश्वासभाजन बने रहनेपर राष्ट्रपति भी, उसे पदच्युत करनेका साहस नहीं कर सकता, क्योंकि इससे तत्काल वैधानिक संकट उपस्थित होने की आशंका होती है । मंत्रि-मण्डल में प्रधान मंत्री अध्यक्षता करता है, संसद में कार्य का नेतृत्व । उसकी स्थिति न केवल प्रधान है बल्कि अत्यन्त महत्वपूर्ण है । प्रोफेसर लास्की ने इसीलिये लिखा है कि प्रधान-मंत्री 'शासन की धुरी' है । कनाडा के संविधान के अनुसार वहां के प्रधान-मंत्री की स्थिति और क्षमता के सम्बन्ध में लिखते हुए डासन ने (Government of Canada में) लिखा है :

"वह (प्रधान मंत्री) मंत्रि-परिषद तथा संसद, दोनों ही में वही संचालक शक्ति है । संसद का अधिवेशन बुलाने अथवा स्थगित करने के लिये वह राज्यपाल को मंत्रणा देता है और इससे न केवल संसद में, बल्कि मंत्रि-परिषद

में भी उसे बल मिलता है। उसकी क्षमताएँ असीम हैं, किन्तु जिन मूल-भूत स्थितियों में उसे काम करना पड़ता है, उनमें उसे दल के भीतर मैत्रीपूर्ण और सहिष्णुतापूर्ण वातावरण में चलना पड़ता है और बाहर वह अनवरत आलोचना, सन्देह और स्पष्टतः कटु निन्दा का पांत्र होता है।"

भारत का महान्यायवादी

७६. (१) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखनेवाले व्यक्ति को राष्ट्रपति भारत का महान्यायवादी नियुक्त करेगा। (२) महान्यायवादी का कर्तव्य होगा कि वह भारत-सरकार को ऐसे विधि-सम्बन्धी विषयों पर मंत्रणा दे तथा ऐसे विधिरूप दूसरे कर्तव्यों का पालन करे जो राष्ट्रपति उसे समय-समय पर भेजे या सौंपे, तथा उन कृत्यों का निर्वहन करे जो इस संविधान अथवा अन्य किसी तत्समय प्रवृत्तविधि के द्वारा या अधीन उसे दिये गये हों। (३) अपने कर्तव्यों के पालन के लिये महान्यायवादी को भारत राज्यक्षेत्र में के सब न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार होगा। (४) महान्यायवादी राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेगा तथा ऐसा पारिश्रमिक पायेगा, जैसा राष्ट्रपति निर्धारित करे।

महान्यायवादी—

महान्यायवादी—(Attorney General)—की व्यवस्था पहिले से है। अन्तर यही है कि पहिले वह एटार्नीकेट-जेनरल कहा जाता था। कानूनी मामलों में उसे राष्ट्रपति को मंत्रणा देना है और महत्व के वैधानिक अथवा

अन्य मामलों में वह भारत सरकार का प्रतिनिधित्व न्यायालयों में करता है। अनुच्छेद ८८ के अनुसार संसद के दोनों सदनों में पृथक-पृथक अथवा दोनों की संयुक्त बैठकों में उसे उपस्थित होने और बोलने का अधिकार दिया गया है, किन्तु मतदान का नहीं।

सरकारी कार्य-संचालन

७७. (१) भारत सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जायगी। (२) राष्ट्रपति के नाम से दिये और निष्पादित आदेशों और अन्य लिखतों का प्रमाणीकरण उस रीति से किया जायगा जो राष्ट्रपति द्वारा बनाये जानेवाले नियमों में उल्लिखित हो तथा इस प्रकार प्रमाणीकृत आदेश या लिखत की मान्यता पर आपत्ति इस आधार पर न की जायगी कि वह राष्ट्रपति द्वारा दिया या निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है। (४) भारत सरकार का काम अधिक सुविधा-पूर्वक किये जाने के लिये तथा मंत्रियों में उक्त कार्य के बँटवारे के लिये राष्ट्रपति नियम बनायेगा।

—:*:—

सोलहवाँ अध्याय

संसद्

७९. संघ के लिये एक संसद् होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्य-परिषद् और लोक-सभा होंगे।

राज्य-परिषद्

८०. (१) राज्यपरिषद्—(क) राष्ट्रपति द्वारा खण्ड (३) के उपबन्धों के अनुसार नाम निर्देशित किये जानेवाले बारह सदस्यों; तथा (ख) राज्यों के दो सौ अड़तीस से अनधिक प्रतिनिधियों से, मिलकर बनेगी।

(२) राज्य-परिषद् में राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा भरे जानेवाले स्थानों का बँटवारा चतुर्थ अनुसूची में अन्तर्विष्ट तद्विषयक उपबन्धों के अनुसार होगा। (३) खण्ड (१) के उपखण्ड (क) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित किये जानेवाले सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें निम्न प्रकार के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है; अर्थात्—साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा। राज्य परिषद् के लिये प्रथम अनुसूची के भाग (क) या भाग (ख) में उल्लिखित प्रत्येक राज्यके प्रतिनिधि उस राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अनुपाती

प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे। (५) राज्य-परिषद् के लिये प्रथम अनुसूची के भाग (ग) में उल्लिखित राज्यों के प्रतिनिधि ऐसी रीति से चुने जायेंगे जैसी कि संसद्-विधि द्वारा विहित करे।

लोक-सभा

८१. (१) (क) खण्ड (२) के तथा अनुच्छेद ८२ और ३३१ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्यों में के मतदाओं द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित पाँच सौ से अनधिक सदस्यों से मिलकर लोक-सभा बनेगी। (ख) उपखण्ड (क) के प्रयोजन के लिये भारत के राज्यों का प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजन, वर्गीकरण या निर्माण किया जायगा तथा प्रत्येक ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र की बाँट में दिये जानेवाले सदस्यों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की जायेगी जिससे कि यह सुनिश्चित रहे कि प्रति ७,५०,००० जनसंख्या के लिये एक से कम सदस्य तथा ५,००,००० जनसंख्या के लिये एक से अधिक सदस्य न होगा। (ग) प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र को बाँट में दिये गये सदस्यों की संख्या का, उस निर्वाचन-क्षेत्र की ऐसी अन्तिम पूर्वगत जनगणना में, जिसके तत्सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित हो चुके हैं, निश्चित की गयी जनसंख्या से, अनुपात भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र एक ही होगा।

(२) भारत राज्य-क्षेत्र में समाविष्ट किन्तु किसी राज्य के अन्तर्गत न होनेवाले राज्य-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व लोक-सभा में ऐसा होगा जैसा कि संसद् विधि द्वारा उपबन्धित करे।

(३) प्रत्येक जनगणना की समाप्ति पर लोक-सभा में विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व का एक ऐसे प्राधिकारी द्वारा ऐसी रीति से और ऐसी तारीख से प्रभावी होने के लिये पुनः समायोजन किया जायगा जैसा कि संसद्-विधि द्वारा निर्धारित करे :

परन्तु ऐसे पुनः समायोजन से लोक-सभा में के प्रतिनिधित्व पर तबतक कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जबतक कि उस समय वर्त-मान सदन का विघटन न हो जाय।

८२. अनुच्छेद ८१ के खण्ड (१) में किसी बात के होते हुए भी संसद्, विधि द्वारा, लोक-सभा में प्रथम अनुसूची के भाग (ग) में उल्लिखित किसी राज्य के, अथवा भारत-राज्यक्षेत्र में समा-विष्ट किन्तु किसी राज्य के अन्तर्गत न होनेवाले किन्हीं राज्य-क्षेत्रों के, प्रतिनिधित्व का उस खण्ड में उपबन्धित आधार या रीति से भिन्न उपबन्ध कर सकेगी।

८३. (१) राज्य-परिषद् का विघटन न होगा, किन्तु उसके सदस्यों में से यथाशक्य निकटतम एक-तिहाई संसद् निर्मित विधि द्वारा बनाये गये तद्विषयक उपबन्धों के अनुसार, प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र निवृत्त हो जायेंगे।

(२) लोक-सभा, यदि पहिले ही विघटित न करदी जाये तो, अपने प्रथम अधिवेशन के लिये नियुक्त तारीख से पाँच वर्ष तक चालू रहेगी और इससे अधिक नहीं, तथा पाँच वर्ष की उक्त कालावधि का परिणाम लोक-सभा का विघटन होगा :

परन्तु उस कालावधि को, जबतक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, संसद, विधि द्वारा, किसी कालावधि के लिये बढ़ा सकेगी जो एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी तथा किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त होजाने के पश्चात् छ मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी।

८४. कोई व्यक्ति संसद् में किसी स्थान की पूर्ति के लिये अर्ह न होगा जबतक कि –(क) वह भारत का नागरिक न हो; (ख) राज्य-परिषद् के स्थान के लिये कम-से-कम तीस वर्ष की आयु का, तथा लोक-सभा के स्थान के लिये कम-से-कम २५ वर्ष की आयु का न हो, तथा (ग) ऐसी अन्य अर्हतायें न रखना हो जो कि इस बारे में संसद् निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन विहित की जायें।

८५. (१) संसद् के सदनों को प्रतिवर्ष कम-से-कम दो बार अधिवेशन के लिये आहूत किया जायेगा तथा उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिये नियुक्त तारीख के बीच छ मास का अन्तर न होगा। (२) खण्ड (१) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति समय-समय पर (क) सदनों को अथवा किसी सदन को ऐसे समय तथा स्थान पर, जैसा वह उचित समझे, अधिवेशन के लिये आहूत कर सकेगा; (ख) सदनों का सत्रावसान कर सकेगा; (ग) लोक-सभा का विघटन कर सकेगा।

८६. (१) संसद् के किसी एक सदन को, अथवा साथ

समवेत दोनों सदनों को, राष्ट्रपति सम्बोधित कर सकेगा तथा इस प्रयोजन के लिये सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा। (२) राष्ट्रपति संसद में उस समय लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश संसद के किसी सदन को भेज सकेगा तथा जिस सदन को इस प्रकार सन्देश भेजा गया हो वह सदन उस सन्देश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथा सुविधा शीघ्रता से विचार करेगा।

८७ (१) प्रत्येक सत्र के आरम्भ में साथ समवेत संसद के दोनों सदनों को राष्ट्रपति सम्बोधन करेगा तथा संसद को उसके आह्वान का कारण बतायेगा। (२) प्रत्येक सदन की प्रक्रिया के विनियायक नियमों से ऐसे अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयों की चर्चा के हेतु समय रखने के लिये, तथा सदन के अन्य कार्य पर इस चर्चा को पूर्ववर्त्तिता देने के लिये, उपबन्ध किया जायगा।

८८. भारत के प्रत्येक मंत्री और महान्यायवादी को अधिकार होगा कि वह किसी भी सदन में, सदनों की किसी संयुक्त बैठक में, तथा संसद की किसी समिति में, जिसमें उसका नाम सदस्य के रूप में दिया गया हो, बोले तथा दूसरे प्रकार से कार्यवाहियों में भाग ले, किन्तु इस अनुच्छेद के आधार पर उसको मत देने का हक न होगा।

संसद के पदाधिकारी

८९. भारत का उपराष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद् का सभापति

होगा। (२) राज्य-परिषद् यथासम्भव शीघ्र अपने किसी सदस्य को अपना उपसभापति चुनेगी और जबतक उपसभापति का पद रिक्त हो तबतक किसी अन्य सदस्य को अपना उपसभापति चुनेगी।

९०. राज्य-परिषद् के उपसभापति के रूप में पद धारण करनेवाला सदस्य (क) यदि परिषद् का सदस्य नहीं रहता तो अपना पद रिक्त कर देगा (ख) किसी समय भी अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा, जो सभापति को सम्बोधित होगा अपना पद त्याग सकेगा, तथा (ग) परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित परिषद् के सङ्कल्प द्वारा अपने पद से हटाया जासकेगा: परन्तु खण्ड (ग) के प्रयोजन के लिये कोई सङ्कल्प तबतक प्रस्तावित न किया जायगा जबतक कि उस सङ्कल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम-से-कम चौदह दिन की सूचना न देदी गयी हो।

९१ (१) जब कि सभापति का पद रिक्त हो, अथवा किसी कालावधि में जब कि उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन कर रहा हो, तब उपसभापति अथवा, यदि उपसभापति का भी पद रिक्त हो तो, राज्य-परिषद् का ऐसा सदस्य, जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। (२) राज्य-परिषद् की किसी बैठक में सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति, अथवा यदि वह भी अनुपस्थित है तो, ऐसा व्यक्ति, जो

परिषद् की प्रक्रिया के नियमों द्वारा निर्धारित किया जाये, अथवा, यदि ऐसा कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं है तो, ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे परिषद् निर्धारित करे, सभापति के रूप में कार्य करेगा।

९२ (१) राज्य परिषद् की किसी बैठक में, जब उप-राष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई सङ्कल्प विचाराधीन हो तब सभापति, अथवा जब उपसभापति को अपने पद से हटाने का कोई सङ्कल्प विचाराधीन हो तब उपसभापति, उपस्थित रहने पर भी, पीठासीन न होगा तथा अनुच्छेद ९१ के खण्ड (२) के उपबन्ध उसी रूप में ऐसी प्रत्येक बैठक के सम्बन्ध में लागू होंगे जिसमें कि वे उस बैठक के सम्बन्ध में लागू होते हैं जिससे कि यथा-स्थिति सभापति या उपसभापति अनुपस्थित हैं। (२) जब कि उप-राष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई सङ्कल्प राज्य-परिषद् में विचाराधीन हो तब सभापति को परिषद् में बोलने तथा दूसरी प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा; किन्तु अनुच्छेद १०० में किसी बात के होते हुए भी, ऐसे सङ्कल्प पर, अथवा ऐसी कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर, मत देने का बिल्कुल हक न होगा।

९३. लोक सभा यथासम्भव शीघ्र अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी तथा जब-जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तबतब सभा किसी अन्य सदस्य को यथास्थिति अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी।

अनुच्छेद ९४ के अनुसार लोक-सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में काम करनेवाले सदस्य की पद-रिक्तता, पदत्याग तथा पद से हटाये जाने; और अनुच्छेद ९५ के अनुसार अध्यक्ष-पद के कर्तव्य पालन की, अथवा अध्यक्ष के रूप में कार्य करने की उपाध्यक्ष या अन्य व्यक्ति की शक्ति; तथा अनुच्छेद ९६ (१) के अनुसार जब उसके पद से हटाये जाने का संकल्प विचाराधीन हो तब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष लोक-सभा की बैठकों में पीठासीन न होगा—इन विषयों के उपबन्ध यथास्थिति वैसे ही हैं, जैसे कि ऊपर उल्लिखित अनुच्छेद ९०, ९१ तथा ९६ (१) के उपबन्ध हैं।

९६. (२) जब कि अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई सङ्कल्प लोक-सभा में विचाराधीन हो तब उसको लोक-सभा में बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा तथा अनुच्छेद १०० में किसी बात के होते हुए भी ऐसे सङ्कल्प पर, अथवा ऐसी कार्यवाहियों में किसी अन्य विषयपर, प्रथमतः ही मत देने का हक्क होगा किन्तु मत साम्य होने की दशा में न होगा।

९७. राज्य-परिषद् के सभापति और उपसभापति को, तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को, ऐसे वेतन और भत्ते, जैसे क्रमशः संसद् विधि द्वारा नियत करे, तथा जबतक उस लिये उपबन्ध इस प्रकार न बने, तबतक ऐसे वेतन और भत्ते, जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं, दिये जायेंगे।

अनुच्छेद ९८ द्वारा संसद् के प्रत्येक सदन के लिये साचिविक कर्मचारी वृन्द, उनकी भर्ती, सेवा की शर्तों के विनियमन का

अधिकार संसद् को विधि द्वारा करनेका अधिकार दिया गया है और जबतक संसद् एद्विषयक उपबन्ध नहीं करती, तबतक राष्ट्रपति को, यथास्थिति, लोक-सभा के अध्यक्ष अथवा राज्य-परिषद् के सभापति से परामर्श करके, ऐसे उपबन्ध करने का भार सौंपा गया है। अनुच्छेद ६६ में संसद् के प्रत्येक सदन के प्रत्येक सदस्य के लिये शपथ या प्रतिज्ञान-सम्बन्धी उपबन्ध हैं। अनुच्छेद १०० में सदनों में मतदान, रिक्तताओं के होते हुए भी सदनों की कार्य करने की शक्ति तथा गणपूर्ति-सम्बन्धी उपबन्ध हैं। निर्णय बहुमत द्वारा होगा, मतसाम्य की स्थिति में, सभापति अथवा अध्यक्ष का मत निर्णायक होगा और गणपूर्ति सदन के सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या का दशांश होगी। अनुच्छेद १०१ में स्थानों की की रिक्तता किन-किन अवस्थाओं में होगी, इसका उल्लेख है।

१०२. (१) कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिये और सदस्य होने के लिये अनर्ह होगा—(क) यदि वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर, जिसे धारण करनेवाले का अनर्ह न होना संसद् ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई अन्य लाभ का पद धारण किये हुए है; (ख) यदि वह विकृत चित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा वर्तमान है; (ग) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया है; (घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है, अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति को अभिस्वीकार किये हुए है; (ङ) यदि वह संसद् निर्मित किसी विधि के द्वारा

या अधीन अनर्ह कर दिया गया है। (२) इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिये कोई व्यक्ति भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करनेवाला केवल इसीलिये नहीं समझा जायगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है।

अनुच्छेद १०३ (१) और (२) में सदस्यों की अनर्हताओंविषयक प्रश्नों पर विनिश्चिय के उपबन्ध हैं और अनुच्छेद १०४ के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अर्ह न होते हुए, अथवा अनर्ह किये जाने पर संसद के किसी सदन में बैठता अथवा मत देता है तो वह प्रत्येक दिन बैठने अथवा इस प्रकार मतदान करने के लिये पाँच सौ रुपये के दंड का भागी होगा जो संघ को देय ऋण के रूप में वसूल होगा।

अनुच्छेद १०५ और १०६ में संसद और उसके सदस्यों की शक्तियों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों का उल्लेख है जिनके अनुसार संसद में वाक्-स्वातन्त्र्य रहेगा, संसद में कही हुई किसी बात के लिये न्यायालय में कोई कार्यवाही न चल सकेगी और सदस्यों को ऐसे वेतन और भत्ते मिलेंगे जिन्हें संसद, विधि द्वारा, नियत करे।

विधान प्रक्रिया

१०७. (१) धन-विधेयकों तथा अन्य वित्तीय विधेयकों के विषय में अनुच्छेद १०९ और ११७ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए कोई विधेयक संसद के किसी सदन में प्रारम्भ हो सकेगा। (२) अनुच्छेद १०८ और १०९ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए कोई विधेयक संसद के सदनों द्वारा तबतक पारित न समझा जायगा जबतक

कि, या तो बिना संशोधनों के या केवल ऐसे संशोधनों के सहित, जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिये गये हैं, दोनों सदनों द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो (३) संसद् में लम्बित विधेयक सदनों के सत्रावसान के कारण व्ययगत न होगा। (४) राज्य-परिषद् में लम्बित विधेयक, जिसको लोक-सभा ने पारित नहीं किया है, लोक-सभा के विघटन पर व्ययगत न होगा। (५) कोई विधेयक जो लोक-सभा में लम्बित है, अथवा जो लोक-सभा से पारित होकर राज्य-परिषद् में लम्बित है, अनुच्छेद १०८ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए लोक-सभा के विघटन पर व्ययगत हो जायगा।

१०८. (१) यदि किसी विधेयक के एक सदन में पारित होने तथा दूसरे सदन को पहुंचाये जाने के पश्चात्—(क) दूसरे सदन द्वारा वह विधेयक अस्वीकृत कर दिया जाता है; अथवा (ख) विधेयक में किये जानेवाले संशोधनों पर दोनों सदन अन्तिम रूप से असहमत हो चुके हैं; अथवा (ग) विधेयक प्राप्ति की तारीख से, बिना इसको पारित किये, दूसरे सदन को छ मास से अधिक बीत चुके हैं, तो लोक-सभा के विघटन होने के कारण यदि विधेयक व्ययगत नहीं हो गया है, तो विधेयक पर पर्यालोचन करने और मत देने के प्रयोजन के लिये संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिये आहूत करने के अभिप्राय की अधि-सूचना सदनों को, यदि वे बैठक में हैं तो सन्देश द्वारा, अथवा यदि बैठक में नहीं हैं तो लोक-अधिसूचना द्वारा, राष्ट्रपति देगा।

परन्तु इस खण्ड में की कोई बात किसी धन-विधेयक को लागू न होगी।

(२) ऐसी किसी छ मास की कालावधि की संगणना में, जो कि खण्ड (१) में निर्दिष्ट है, किसी ऐसी कालावधि को सम्मिलित न किया जायगा जिसमें उक्त खण्ड के उपखण्ड (ग) में निर्दिष्ट सदन सत्रावसित अथवा निरन्तर चार से अधिक दिनों के लिये स्थगित रहता है।

(३) सदनों को संयुक्त बैठक में अधिवेशन के लिये आहूत करने के अभिप्राय को जब राष्ट्रपति खण्ड (१) के अधीन अधि-सूचित कर चुका हो तो कोई सदन विधेयक पर आगे कार्यवाही न करेगा।

खण्ड (४) तथा खण्ड (५) में संयुक्त बैठक में विधेयक पारणा प्रक्रिया-सम्बन्धी उपबन्ध विस्तृत रूप में दिये गये हैं।

१०९ (१) राज्य-परिषद् में धन-विधेयक पुरः स्थापित न किया जायगा। (२) लोक-सभा से पारित होजाने के पश्चात्, धन-विधेयक, राज्य-परिषद् को, उसकी सिपारिशों के लिये पहुंचाया जायगा तथा राज्य-परिषद्,विधेयक की अपनी प्राप्ति की तारीख से चौदह दिन की कालावधि के भीतर, विधेयक को अपनी सिपारिशों सहित लोक-सभा को लौटा देगी तथा ऐसा होने पर लोक सभा राज्य-परिषद् की सिपारिशों में से सबको या किसी को स्वीकार या अस्वीकार कर सकेगी।

खण्ड (३), (४) तथा (५) के उपबन्धों के अनुसार लोक-सभा को यह अधिकार दिया गया है कि धन-विधेयकों को वह स्वेच्छापूर्वक, राज्य-परिषद् के मतामत की उपेक्षा करके भी, पारित कर सके और ऐसे विधेयक दोनों सदनों से पारित हुए समझे जायेंगे।

११० (१) इस अध्याय के प्रयोजनों के लिये कोई विधेयक धन-विधेयक समझा जायगा यदि उसमें निम्नलिखित विषयों में से सब अथवा किसी से सम्बन्ध रखनेवाले उपबन्ध अन्तर्विष्ट ही हैं, अर्थात्—(क) किसी कर का आरोपण, उत्सादन, परिहार, बदलना या विनियमन; (ख) भारत-सरकार द्वारा धन उधार लेने का, अथवा कोई प्रत्याभूत देने का, अथवा भारत-सरकार द्वारा लिये गये अथवा लिये जानेवाले किन्हीं वित्तीय आभारों से सम्बद्ध विधि के संशोधन करने का, विनियमन, (ग) भारत की संचित-निधि अथवा आकस्मिकता-निधि की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमेंसे धन निकालना; (घ) भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग; (ङ) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारतीय व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना; (च) भारत की संचित निधि के या भारत के लोक-लेखे के मद्धे धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन को अभिरक्षा या निकासी करना अथवा संघ या राज्य के लेखाओं का लेखा-परीक्षण; अथवा (छ) उपखण्ड (क) से (च) तक में उल्लिखित विषयों में से किसी का आनु-षंगिक कोई विषय।

(२) कोई विधेयक केवल इस कारण से धन-विधेयक न समझा जायगा कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थ दण्डों के आरोपण का, अथवा अनुज्ञप्तियों के लिये फीसों की, अथवा की हुई सेवाओं के लिये फीसों की, अभियाचना का या देने का, उपबन्ध करता है, अथवा इस कारण से कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिये किसी कर के आरोपण, उत्सादन, परिहार, बदलने या विनियमन का उपबन्ध करता है। (३) यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन-विधेयक है या नहीं तो उसपर लोक-सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होगा। (४) अनुच्छेद १०९ के अधीन जब धन-विधेयक राज्य-परिषद् को भेजा जाता है तथा जब वह अनुच्छेद १११ के अधीन अनुमति के लिये राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाता है तब प्रत्येक धन विधेयक पर लोक-सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित यह प्रमाण अंकित रहेगा कि वह धन-विधेयक है ।

१११. जब संसद् के सदनों द्वारा कोई विधेयक पारित किया गया हो तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जायगा तथा राष्ट्रपति घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है :

अनुमति के लिये अपने समक्ष उपस्थित किये जाने पर राष्ट्रपति, यदि वह धन-विधेयक नही है, तो अपने सुझाव के साथ उपबन्ध-विशेष को पुनर्विचार के लिये सदनों को लौटा सकता है और पुनर्विचार के पश्चात् जो विधेयक पारित होंगे, उनपर राष्ट्रपति अपनी अनुमति नही रोकेगा ।

वार्षिक-वित्त-विवरण : प्रक्रिया

'वार्षिक वित्त-विवरण' एवं वित्तीय विषयों सम्बन्धी प्रक्रिया का संविधान के अनुच्छेद ११२ से ११७ तक में उल्लेख है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में संसद् के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति भारत-सरकार की उस वर्ष के लिये प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय का विवरण रखवायेगा जिसे संविधान के भाग ५ में "वार्षिक वित्त-विवरण" नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस विवरण में भारत के आय व्यय का अनुमानिक विवरण रहेगा। केन्द्रीय कोष एवं अन्य प्रस्थापित व्यय की पूर्ति के लिये अपेक्षित आवश्यक राशियाँ दिखलायी जायेंगी। भारत की संचित निधि पर भारित व्यय से सम्बद्ध प्राक्कलनें संसद् में मतदान के लिये न रखी जायेंगी, किन्तु कोई सदन उनपर चर्चा करने से नहीं रोका जासकता। उक्त प्राक्कलनों में से जितनी अन्य व्यय से सम्बद्ध हैं वे लोक-सभा के समक्ष अनुदानों की मांगों के रूप में रखी जायेंगी तथा लोक-सभा की शक्ति होगी कि किसी माँग को स्वीकार या अस्वीकार करे। राष्ट्रपति की सिपारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग न की जायगी (अनुच्छेद ११२-११३) भारत-सरकार के वित्त पर संसद् का प्रभावी नियंत्रण रखने के लिये उक्त उपबन्ध रखे गये हैं। अनुदानों की माँग के पश्चात् विनियोग-विधेयक द्वारा भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के लिये धन लिया जायगा। (अनु० ११४) आवश्यकतानुसार अनुपूरक, अपर या अधिकाई अनुदानों के लिये भी अनु० ११५

में उपबन्ध हैं। यह भी उपबन्ध है कि संचित निधि से विनियोग विधेयक के पारित होकर अधिनियमित होने के अनुसार से ही धन निकाला जायगा। सरकार की कर लगाने की प्रस्थापनाएँ भी इसी विधेयक के अन्तर्गत आती हैं। वित्तीय विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश से केवल लोक-सभा में पुरः स्थापित किये जायेंगे। लोक-सभा को लेखानुदान, प्रत्ययानुदान एवं अपवादानुदान का भी अधिकार है। (अनु० ११६) अनुपूरक, अपर अथवा अधिकाई अनुदानों की स्वीकृति के पूर्व आवश्यतानुसार राष्ट्रपति आकस्मिक निधि से व्यय करने की अग्रिम स्वीकृति दे सकता है। अनुच्छेद ११७ के अन्तर्गत वित्त विधेयकों को लेकर यह उपबन्ध है कि ऐसे विधेयक अथवा संशोधन राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पुरः स्थापित अथवा प्रस्तावित नहीं किये जायेंगे। इंग्लैंड की कामन्स सभा के स्थायी आदेश की संख्या ६४ के एतद्विषयक उपबन्धों के अनुसार ही उक्त ११७ अनुच्छेद के उपबन्ध हैं। उक्त आदेश ६४ के अन्तर्गत सम्राट की स्वीकृति के बिना वित्त विधेयक कामन्स में पुरः स्थापित नहीं किये जासकते।

संसद्—

ससद के दोनों सदनों के गठन, अधिकार, निर्वाचन प्रणाली, सदस्यों के अधिकार, विधेयकों के उपस्थित तथा पारित करने के नियमोपनियम का उल्लेख ऊपर किया जाचुका है। विधान निर्माण के लिये गठित विधान सभा ही

अभी, १९५१ के अन्त तथा १९५२ के प्रारम्भिक दिनों में होनेवाले साधारण निर्वाचनों के पहिले तक, संसद् का कार्य भी कर रही है। संसद् का भावी गठन, तत्सम्बन्धी पिछली व्यवस्थाओं से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। १९३५ के भारतीय शासन विधान के अन्तर्गत जो व्यवस्थापिका सभाएँ गठित हुईं, उनसे और भावी संसद से कोई तुलना ही नहीं है। भावी संसद् की निर्वाचन प्रणाली में साम्प्रदायिक निर्णय-जैसी विषैली व्यवस्थाओं का सर्वथा अन्त कर दिया गया है: सभी नागरिकों को मात्र भारतीय के नाते निर्वाचन में भाग लेना है, विशेष धर्मावलम्बी के नाते नहीं। प्रतिनिधित्व की सीमा अत्यधिक विस्तृत कर दी गयी है। संविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद् ने कहा था :—

"हमने वयस्क मताधिकार का उपबन्ध किया है, जिसके अनुसार प्रान्तों की विधान सभाएँ में और केन्द्र की लोक-सभा निर्वाचित होंगी। हमने यह बहुत बड़ा कदम उठाया है। यह न केवल इस कारण बड़ा है कि हमारा बर्तमान निर्वाचक मण्डल अपेक्षाकृत बहुत छोटा है, और उसका आधार बहुतकुछ साम्पत्तिक योग्यता है; प्रत्युत यह इस कारण भी बड़ा है कि इसमें भारी संख्याओं से वास्ता पड़ेगा। इस समय हमारी जनसंख्या अधिक नहीं तो ३२ करोड़ के आसपास है और प्रान्तों में निर्वाचकों की जो नामावलियाँ तैयार हो रही हैं उनमें प्राप्त अनुभव से हमने देख लिया है कि मोटे हिसाब से आबादी के ५० प्रतिशत लोग वयस्क हैं, और इस आधार पर हमारी निर्वाचक नामावली में १६ करोड़ से कम निर्वाचक नहीं होंगे। इतनी बड़ी संख्या द्वारा निर्वाचन को संगठित करना एक बहुत विशाल कार्य होगा, और अबतक एक भी देश ऐसा नहीं जिसमें इतने बड़े पैमाने पर निर्वाचन किया

गया हो।" सम्पति, आमदनी, पद पदवी आदि प्राचीन परम्परागत बाधाओं को, जो गणतंत्र विरोधी तत्व थे, उनको संविधान ने निर्वाचन-योग्यताओं से हटा दिया है। इनके आधार पर भारतीय शासन विधान १९१९ के अनुसार भारत के ९७ प्रतिशत तथा भारतीय शासन विधान १९३५ के अनुसार ९० प्रतिशत नागरिक मताधिकार से बंचित थे। वर्तमान संविधान ने इन सब का अन्त कर दिया है और साथ ही साम्प्रदायिक एवं पृथक निर्वाचन पद्धति का भी अन्त कर दिया है। मताधिकार अब धर्म पर नहीं, नागरिकता के आधार पर स्थिर किया गया है। शासनसूत्र अधिकाधिक नागरिकों के हाथ में रहे, इसलिये लोक-सभा के अधिकार राज्य-परिषद से अधिक रखे गये हैं। वित्तीय विषयों में इसका अधिकार सर्वोपरि एवं अन्तिम है। वित्तीय विषयक विधेयकों की पारणा की जो रीति संबिधान में निर्धारित की गयी है, प्रायः वैसी ही रीतियाँ ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका में भी निर्धारित हैं।

वाक्-स्वातन्त्र्य—

अनुच्छेद १०५ के अनुसार सदन के सदस्यों को इस संविधान के उपबन्धों के तथा संसद की प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन रहते हुए संसद में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा। उसी अनुच्छेद के खण्ड (३) के अनुसार इंगलैंड के हाउस आव कामन्स के सदस्यों और समितियों के जैसे अधिकार हैं, वैसे अधिकारों का प्रयोग यहां होगा, जबतक कि एतद्विषयक व्यवस्थाएँ नहीं कर दी जातीं। वाक्-स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त, संसद में बैठे रहने अथवा संसद के कार्य में लगे रहने की स्थिति में कोई सदस्य गिरफ्तार

नहीं किया जासकता, संसद् में कही हुई किसी बात के लिये उसपर मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता, परन्तु इस सुविधा का उपयोग संसद् के बाहर तत्सम्बन्धी प्रकाशन को लेकर नहीं है, यदि वह प्रकाशन संसद् द्वारा अधिकृत नहीं हो। इस प्रकार के अधिकार प्रायः सभी सुसंस्कृत देशों के संविधान में हैं। अमेरिका के संविधान में कहा गया है :—"दोनों में से किसी भी सदन में किसी वक्तृता अथवा विवाद के लिये उन (सिनेटरों और प्रतिनिधियों) से कहीं भी पूछताछ नहीं की जासकती।" (धारा १ उपधारा ६) उक्त अधिकार केवल सदस्यों की सुरक्षा के लिये नहीं रखे गये हैं, प्रत्युत इसलिये भी रखे गये हैं कि वे सदस्य, जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से अपने कर्तव्य का निर्वाह निर्भयतापूर्वक निरापद रहते हुए कर सकें। वे इन सुविधाओं का उल्लंघन करते हुए अवांछनीय कृत्य न करें, इसके लिये सदन अपने नियमों द्वारा उनकी सीमाओं को भी निर्धारित करता है।

संसद् के सदनों का स्वरूप

संविधान के अन्तर्गत संसद् के लिये भावी निर्वाचनों के सम्बन्ध में जो उपबन्ध किये गये हैं उनके अनुसार १२ अप्रैल १९५० को कानून मंत्री ने एक विधेयक उपस्थित किया, जिसमें लोक-सभा के सदस्यों की संख्या ४८८ निश्चित की गयी है। राज्य परिषद् में स्थानों का बटवारा संविधान की चतुर्थ अनुसूची के अनुसार निश्चित किया गया है। इस अनुसूची से संलग्न स्थान-सरिणी के प्रथम स्तम्भ में उल्लिखित प्रत्येक राज्य-समूह को यथास्थिति उतने स्थान बाँट में दिये जायेंगे जितने में कि उक्त

सारिणी के दूसरे स्तम्भ में उस राज्य या राज्य-समूह के सामने उल्लिखति हैं।

प्रथम अनुसूची के भाग (क) में उल्लिखित राज्यों के प्रतिनिधि :—

	राज्य	कुल स्थान
१.	आसाम	६
२.	उड़ीसा	६
३	पंजाब	८
४	पश्चिमी बंगाल	१४
५	बिहार	२१
६.	मद्रास	२७
७.	मध्य प्रदेश	१२
८.	बम्बई	१७
६	उत्तर प्रदेश	३१
	कुल	१४५

प्रथम अनुसूची के भाग (ख) में उल्लिखित राज्यों के प्रतिनिधि

	राज्य	कुल स्थान
१	जम्मू और काश्मीर	४
२.	त्रावणकोर-कोचीन	६
३.	पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य	३
४.	मध्य भारत	६
५	मैसूर	६

राज्य	कुल स्थान
६. राजस्थान	६
७. विन्ध्य प्रदेश	४
८. सौराष्ट्र	४
९. हैदराबाद	११
	कुल ५३

प्रथम अनुसूची के भाग (ग) में उल्लिखित राज्यों के प्रतिनिधि

राज्य और राज्य समूह	कुल स्थान
१. अजमेर २. कोड़गु	१
३. कच्छ	१
४. कूचविहार	१
५. दिल्ली	१
६ बिलासपुर ७. हिमालय प्रदेश	१
८. भोपाल	१
९. मनीपुर १०. त्रिपुरा	१
	कुल ७

कुल स्थानों का जोड़ २०५

लोक-सभा—

उक्त १२ अप्रैल १९५० के अधिनियमों के अनुसार नये निर्वाचनों द्वारा ४८८ सदस्यों को लेकर लोक-सभा गठित की जायगी। लोक-सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि इस प्रकार होंगे :—

भाग (क)

नाम राज्य	सदस्य संख्या
उत्तर प्रदेश	८६
मद्रास	७५
बिहार	५५
बंबई	४५
पश्चिमी बंगाल	३४
मध्य प्रदेश	२९
उड़ीसा	२०
पंजाब	१८
आसाम	१२
	३७४

भाग (ख)

नाम राज्य	सदस्य संख्या
हैदराबाद	२५
जम्मू-काश्मीर	६
मध्य भारत	११
मैसूर	११
पूर्वी पंजाब रियासती संघ	५
राजस्थान	२०
सौराष्ट्र	६
त्रावणकोर-कोचीन	१२
	९६

भाग (ग)

नाम राज्य	सदस्य संख्या
विंध्य प्रदेश	५
हिमाचल प्रदेश	२
देहली	३
अजमेर	१
भोपाल	१
विलासपुर	१
कुर्ग	१
कच्छ	१
मनीपुर	१
त्रिपुरा	१
अण्डमन	१
	१८

कुल जोड़ ४८८

—०*०—

सत्रहवाँ अध्याय

संघ की न्यायपालिका

उच्चतम न्यायालय की स्थापना और गठन

१२४. (१) भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायाधिपति तथा, जबतक संसद् विधि द्वारा और अधिक संख्या निर्धारण नहीं करती तबतक, अन्य सात से अनधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा।

(२) उच्चतम न्यायालय के, तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के, ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करके, जिनसे कि इस प्रयोजन के लिये परामर्श करना राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीशकों नियुक्त करेगा। तथा वह न्यायाधीश तबतक पद धारण करेगा जबतक कि वह पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त न कर ले :

परन्तु मुख्य न्यायाधिपति से भिन्न किसी अन्य न्यायाधीश की नियुक्ति के विषय में भारत के मुख्य न्यायाधिपति से सर्वदा परामर्श किया जायगा :

परन्तु यह और भी कि—(क) कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग

सकेगा; (ख) खण्ड (४) में उपबन्धित रीति से कोई न्यायाधीश अपने पद से हटाया जा सकेगा।

(३) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिये कोई व्यक्ति तबतक अर्ह न होगा जबतक कि वह भारत का नागरिक न हो तथा—

(क) किसी उच्चतम न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम-से-कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश न रह चुका हो; अथवा (ख) किसी उच्च न्यायालय का; अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का, लगातार कम-से-कम दस वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो; अथवा (ग) राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता न हो।

१२६. उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय होगा तथा उसे अपने अवमान के लिये दंड देने की शक्ति के सहित ऐसे न्यायस्लय की सब शक्तियाँ होंगी।

१३०. उच्चतम न्यायालय दिल्ली में अथवा ऐसे जन्य स्थान या स्थानों में, जिन्हें भारत का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति के अनुमोदन से समय-समय पर नियुक्त करे, बैठेगा।

१३१. इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए—(क) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के बीचके; अथवा (ख) एक ओर भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यों तथा दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच के; अथवा (ग) दो या अधिक राज्यों के बीच के, किसी विवाद में, यदि और जहाँतक

उस विवाद में ऐसा कोई प्रश्न अन्तग्रस्त है (चाहे तो विधि का चाहे तथ्य का) जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है, वहाँ तक, अन्य न्यायालयों का अपवर्जन करके उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार होगा :—

परन्तु उक्त क्षेत्राधिकार का विस्तार उस विवाद पर न होगा जिसमें — १) प्रथम अनुसूची के भाग (ख) में उल्लिखित कोई राज्य एक पक्ष है, यदि वह विवाद किसी ऐसी सन्धि, करार, संविदा बचनबन्ध, सनद या अन्य तत्सम लिखत के, जो इस संविधान के प्रारम्भ से पहिले की गयी या निष्पादित थी; तथा ऐसे प्रारम्भ के पश्चात प्रवर्तन में है या रख ली गयी है, किसी उपबन्ध से पैदा हुआ है। (२) कोई राज्य एक पक्ष है, यदि वह विवाद किसी ऐसी सन्धि, करार, प्रसंविदा बचनबन्ध, सनद या अन्य तत्सम लिखित के, जो उपबन्ध करती है कि वैसा क्षेत्राधिकार, ऐसे विवाद पर विस्तृत न होगा, किसी उपबन्ध से पैदा हुआ है।

१३९. अनुच्छेद ३२ के खण्ड (२) में वर्णित प्रयोजनों से भिन्न किन्हीं प्रयोजनों के लिये ऐसे निदेश, आदेश, या लेख जिनके अन्तर्गत वन्दी प्रत्यीक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकारपृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख भी हैं अथवा इनमें से किसी को निकालने की शक्ति संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रदान कर सकेगी।

१४१. उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत राज्य के क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों को बन्धनकारी होगी।

१४३. (१) यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है, अथवा उसके उत्पन्न होने की सम्भावना है जो इस प्रकार का और ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि उसपर उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त करना इष्टकर है तो वह उस प्रश्न को उस न्यायालय को विचारार्थ सौंप सकेगा तथा वह न्यायालय, ऐसी सुनवायी के पश्चात् जैसी कि वह उचित समझे, राष्ट्रपति को उसपर अपनी राय प्रतिवेदित कर सकेगा। (२) राष्ट्रपति, अनुच्छेद १३१ के परन्तुक के खण्ड (१) में किसी बात के होते हुए भी, उक्त खण्ड में वर्णित प्रकार के विवाद को उच्चतम न्यायालय को राय देने के लिये सौंप सकेगा तथा उच्चतम न्यायालय, ऐसी सुनवाई के पश्चात् जैसी कि वह उचित समझे, राष्ट्रपति को उसपर अपनी राय प्रतिवेदित करेगा।

उच्चतम न्यायालय—

संघ शासन प्रणाली के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय की आवश्यकता अनिवार्य है और उसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण। संघ में समाविष्ट राज्यों के पारस्परिक विवाद का निर्णय और संविधान का संरक्षण उच्चतम न्यायालय करता है। नागरिक अधिकारों की सुरक्षा भी उसीके हाथ में है। संसद में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल स्वेच्छापूर्वक विधि बना सकता है। और उसी बहुमत प्राप्त दल द्वारा गठित कार्यपालिका निरंकुश शासनप्रणाली चालू कर

सकती है, किन्तु उच्चतम न्यायालय इस प्रकार की स्वेच्छाचारिताओं पर अंकुश का काम करता है, क्योंकि विधि, संविधान के अनुसार है या नहीं इसका निर्णय उसीके हाथ में है। अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में लिखते हुए विधानवेत्ता ब्राइस ने कहा है, और वही भारतीय संघ के उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में भी लागू है, कि उच्चतम न्यायालय ने सदा ही घोषणा की है और उसने उस घोषणा के अनुसार कार्य भी किया है कि उसे राजनीतिक विवादों से कोई मतलब नहीं। विधि के समक्ष किसी राजनीतिक दल, किसी भी राजनीतिक मत-वाद का कोई प्रश्न नहीं। नागरिकों में इस प्रकार विधि-सम्बन्धी आस्था होनी चाहिये। ब्राइस ने लिखा है कि अमेरिका की संघ शासन प्रणाली को जो ऐसी अनुपम सफलता मिली, उसका प्रधान कारण है कि वहाँ का नागरिक विधि में आस्था रखता है। और विधि में यह आस्था तभी होती है जब न्यायपालिका पूर्ण स्वाधीनतापूर्वक, राजनीतिक दलों एवं मतवादों से सर्वथा अछूती रहकर, केवल विधि का विवेचन एवं तद्विषयक निर्णय दे। केवल नागरिकों के लिये नहीं, समस्त राष्ट्र के लिये यह हितकर है कि न्यायपालिका को इसी प्रकार की क्षमताशाली बनाने में सहायक हों। उच्चतम न्यायालय-सम्बन्धी उपरोक्त उपबन्ध स्पष्ट करते हैं कि राष्ट्रपति भी अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत उसकी राय ले सकता है। अतः न्यायपालिका को सर्वथा निर्भीक, सुयोग्य, एवं स्वतंत्र रहना चाहिये। भारतीय उच्चतम न्यायालय का गठन हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए, किन्तु उसने इन्हीं विशेषताओं के कारण ऐसी प्रतिष्ठा और मर्यादा पायी है और उसमें लोगों की आस्था है। ब्रिटिश शासनकाल में सर वरदाचारियर जब मुख्य न्यायाधीश थे, तब स्पेशल कोर्ट आर्डिनेन्स तथा ऐसे कतिपय विषयों को

लेकर जो निर्णय हुए और इधर लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली के चालू होनेपर मुख्य न्यायाधिपति श्री केनिया की अध्यक्षता में कतिपय जो बहुत महत्व के निर्णय हुए उनसे हमारा उच्चतम न्यायालय अपने कार्यों द्वारा सभी की अस्था का पात्र है।

संघ के उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में भारतीय संविधान से केवल कतिपय अत्यन्त महत्व के अनुच्छेद दिये गये हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रणाली अमेरिका तथा इंग्लैण्ड की एतद्विषयक प्रणाली से भिन्न है। इंग्लैंड में प्रधान मंत्री उनकी नियुक्ति करता है और अमेरिका में सीनेट की मंत्रणा से राष्ट्रपति। हमारे यहाँ राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति होती है, पर नियुक्ति के पहिले उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से परामर्श लेने का उपबन्ध है। उच्चतम न्यायालय का अधिकार बहुत ही विस्तृत है। क्योंकि संविधान, दीवानी और फौजदारी के अन्तिम अधिकार उसे प्राप्त हैं। अनुच्छेद १४१ के अनुसार उसके द्वारा घोषित विधि सब न्यायालयों को बन्धनकारी है।

उच्च न्यायालय—

राज्य की न्यायपालिका में सर्वोच्च स्थान उच्चन्यायालय (हाईकोर्ट) का है। उसके न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति, राज्य के राज्यपाल तथा मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श लेने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा होती है। १९३५ के भारतीय शासन विधान के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों के जो कार्य एवं क्षेत्राधिकार उपबन्धित किये गये थे वही वर्त्तमान संविधान में भी हैं। साथ ही माल के मुकदमों में अवाध आसकार एवं नागरिकों के मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में लेख निकालने का अधिकार भी संविधान के अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को है।

भारत का नियंत्रक महालेखा परीक्षक

१४८. (१) भारत का एक नियंत्रक महालेखा-परीक्षक होगा जिसको राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा तथा वह अपने पद से केवल उसी रीति और उन्हीं कारणों से हटाया जायगा जिस रीति और जिन कारणों से उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जाता है। पद ग्रहण के पूर्व उसे शपथ ग्रहण करना होगा। उसके वेतन तथा संग की शर्तें संसद् विधि द्वारा निर्धारित करेगी। उसके विभाग के कर्मचारियों की सेवा-शर्तें उसकी सलाह से राष्ट्रपति निर्धारित करेगा। नियंत्रक महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों और शक्तियों, संघ के और राज्यों के लेखाओं के सम्बन्ध में उसकी शक्ति का उल्लेख अनुच्छेद १४९ तथा १५० के अन्तर्गत किया गया है।

अठारहवाँ अध्याय

राज्यों की शासन व्यवस्था

१५३. प्रत्येक राज्य के लिये एक राज्यपाल होगा।

१५४. (१) राजा की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी, तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। (२) इस अनुच्छेद की किसी बात से —(क) जो कृत्य किसी वर्तमान विधि ने किसी अन्य प्राधिकारी को दिये हैं वे कृत्य राजपाल को हस्तान्तरित किये हुए न समझे जायेंगे, अथवा (ख) राज्यपाल के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी को विधि द्वारा कृत्य देने में संसद अथवा राज के विधानमंडल को बाध्य न होगी।

१५५ राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा।

१५६ (१) राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त राज्यपाल पद धारण करेगा। (२) राज्यपाल राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा। (३) इस अनुच्छेद के पूर्वगामी उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्यपाल अपने पद ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा : परन्तु

अपने पद की अवधि की समाप्त होजाने पर भी राज्यपाल अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण तक पद धारण किये रहेगा।

१५७. (१) कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने का पात्र न होगा जबतक कि वह भारत का नागरिक न हो तथा पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो।

१५८ (१) राज्य पालन तो संसद् के किसी सद्रन का, और न प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्य के विधानमंडल के किसी सदन का, सदस्य होगा तथा यदि संसद् के किसी सदन का, अथवा ऐसे किसी राज्य के विधानमंडल के किसी सदन का, सदस्य राज्यपाल नियुक्त होजाये तो यह समझा जायगा कि उसने उस सदन में अथवा स्थान राज्यपाल के पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है। (२) राज्यपाल अन्य कोई लाभ का पद धारण न करेगा। (३) राज्यपाल को, बिना किराया दिये अपने पदावासों के उपयोग का हक्क होगा तथा उसको उन उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का, जो संसद्-निर्मित विधि द्वारा निर्धारित किये जायें, तथा जबतक इस विषय में इस प्रकार उप-बन्ध नहीं किया जाता तबतक ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों, जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित है, हक्क होगा। (४) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते उसकी पद की अवधि में घटाये नहीं जायेंगे।

१६०. इस अध्याय में उपबन्धन की हुई किसी आकस्मिकता

में राज्य राज्य के राज्यपालक के कृत्यों के निर्वहन के लिये राष्ट्रपति, जैसा उचित समझे, वैसा उपबन्ध बना सकेगा।

१६१. जिस विषय पर किसी राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है उस विषय संबन्धी किसि विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिये सिद्धदोष किसी व्यक्ति के दंड की क्षमा, प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने की, अथवा दंडादेश का विलम्बन, परिहार या लघूकरण करने की, उस राज्य के राज्यपाल को शक्ति होगी।

१६२. इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों तक होगा जिनके बारे में उस राज्य के विधानमंडल को विधि बनाने की शक्ति है परन्तु जिस विषय के बारे में राज्य के विधानमंडल और संसद् को विधि बनाने की शक्ति है उसमें राज्य की कोई कार्यपालिका शक्ति इस संविधान द्वारा, अथवा संसद् निर्मित किसी विधि द्वारा, संघ या उसके प्राधिकारियों को स्पष्टतापूर्वक प्रदत्त शक्ति के अधीन रहकर, और उससे परिसीमित होकर ही होवेगी।

मंत्रि-परिषद्

१६३. (१) जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यों अथवा इनमें से किसीको स्वविवेक से करें उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिये एक मंत्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य

मंत्री होगा। (२) यदि कोई प्रश्न उठता है कि कोई विषय ऐसा है या नहीं कि जिसके सम्बन्ध में इस संविधान के द्वारा या अधीन राज्यपाल से अपेक्षित है कि वह स्वविवेक से कार्य करे तो राज्यपाल का स्वविवेक से किया हुआ विनिश्चय अन्तिम होगा तथा राज्यपाल द्वारा की गई किसी बात की मान्यता पर इस कारण से कोई आपत्ति न कीजायेगी कि उसे स्वविवेक से कार्य करना, या न करना चाहिये था। (३) क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई मंत्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच न की जायेगी।

१६४. (१) मुख्य मंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्य मंत्री की मंत्रणा से करेगा तथ राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त मंत्री अपने पद धारण करेंगे : परन्तु उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों में, आदिम जातियों के कल्याण के लिये भार-साधक एक मंत्री होगा जो साथ-साथ अनुसूचित जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण का अथवा किसी अन्य कार्य का भी भार-साधक हो सकेगा। (२) मंत्रि-परिषद् राज्य की विधान-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। (३) किसी मंत्री के अपने पद ग्रहण के पहिले राज्यपाल उससे, तृतीय अनुसूची में इस प्रयोजन के लिये दिये हुए प्रपत्रों के अनुसार, पद की और गोपनीयता की शपथें करायेगा। (४) कोई मंत्री, जो निरन्तर छ मासों की किसी कालावधि तक राज्य के विधानमंडल का सदस्य न रहे, उस कालावधि

की समाप्ति पर मंत्री न रहेगा। (५) मंत्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होंगे जसे समय-समय पर उस राज्य का विधानमंडल विधि द्वारा निर्धारित करे, तथा जबतक उस राज्य का विधानमंडल इस प्रकार निर्धारित न करे तबतक, ऐसे होंगे जैसे कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित है।

राज्य का महाधिवक्ता

१६५ उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखनेवाले व्यक्ति को प्रत्येक राज्य का राज्यपाल राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त करेगा। (२) महाधिवक्ता का कर्तव्य होगा कि वह उस राज्य की सरकार को ऐसे विधि सम्बन्धी विषयों पर मंत्रणा दे तथा ऐसे विधि-रूप दूसरे कर्त्तव्यों का पालन करे जो राज्यपाल उसे, समय-समय पर, भेजें या सौंपें तथा उन कृत्यों का निर्वहन करे जो उसे इस संविधान अथवा अन्य किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के द्वारा या अधीन दिये गये हों। (३) महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसाद प्रर्यन्त पद धारण करेगा तथा राज्यपाल द्वारा निर्धारित पारिश्रमिक पायेगा।

सरकारी कार्य का संचालन

१६६. (१) किसी राज्य की सरकार की समस्त राज्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की हुई कही जायेगी। (२) राज्य पाल के नाम से दिये और निष्पादित आदेशों और अन्य लिखितों का प्रमाणीकरण उसी रीति से किया जायेगा जो राज्यपाल द्वारा

बनाये जानेवाले नियमों में उल्लिखित हो तथा इस प्रकार प्रमाणीकृत आदेश या लिखत की मान्यता पर आपत्ति इस आधार पर न की जायेगी कि वह राज्यपाल द्वारा दिया या निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है। (३) राज्य की सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किये जाने के लिये तथा जहांतक वह कार्य ऐसा कार्य नहीं है जिसके विषय में इस संविधान के द्वारा या आधीन अपेक्षित है कि राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करे वहांतक उक्त कार्य के बटवारे के लिये राज्यपाल नियम बनायेगा।

१६७. प्रत्येक राज्य के मुख्य मंत्री का—(क) राज्य-कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मंत्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिये प्रस्थापनायें राज्यपाल को पहुंचाने का, (ख) राज्य कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान के लिये प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राज्यपाल मंगावे, उसको देने का तथा (ग) किसी विषय को, जिस पर मंत्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मंत्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, राज्यपाल के अपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचार के लिये रखने का, कर्त्तव्य होगा।

राज्य का विधानमंडल

१६८. (१) प्रत्येक राज्य के लिये एक विधानमंडल होगा जो राज्यपाल तथा—(क) पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मुम्बई और संयुक्त प्रान्त के राज्यों में दो सदनों से; (ख) अन्य राज्यों में एक सदन से, मिलकर बनेगा। (२) जहां किसी राज्य के विधान-

मंडल के दो सदन हो वहां एक विधान-परिषद् और दूसरा विधान-सभा के नाम से ज्ञात होगा और जहाँ केवल एक सदन हो वहां वह विधान-सभा के नाम से ज्ञात होगा।

१७०. (१) अनुच्छेद ३३३ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए प्रत्येक राज्य की विधान-सभा प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुए सदस्यों से मिलकर बनेगी। (२) किसी राज्य की विधान-सभा में प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व उस निर्वाचन-क्षेत्र की अन्तिम पूर्वगत जन गणना में, जिसके तत्सम्बन्धी आकड़े प्रकाशित हो चुके हैं, निश्चित की गयी जनसंख्या के आधार पर होगा, तथा आसाम के स्वायत्त जिलों को, तथा शिलौंग के नगर-क्षेत्र व कटक से मिलकर बने निर्वाचन-क्षेत्र को, छोड़कर जन-संख्या के प्रत्येक पचहत्तर हजार के लिये एक से अनधिक प्रति-निधि के अनुपात से होगा। परन्तु किसी राज्य की विधान-सभा में सदस्यों की समस्त संख्या किसी अवस्था में पांच सौ से अधिक अथवा साठ से कम न होगी। (३) राज्य में प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र को बांट में दिये जानेवाले सदस्यों की संख्या का उस निर्वाचन-क्षेत्र की अन्तिम पूर्वगत जनगणना में, जिसके तत्सम्बन्धी आंकड़े प्रकाशित हो चुके हैं, निश्चित की गई जनसंख्या से अनुपात सारे राज्य में सर्वत्र यथासाध्य एक ही होगा। (४) प्रत्येक जनगणना की समाप्ति पर प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व का ऐसे प्राधिकारी द्वारा ऐसी रीति से और ऐसी तारीख से

प्रभावी होने के लिये पुनः समायोजन किया जायेगा जैसा कि संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे : परन्तु ऐसे पुनः समायोजन से विधान-शभा में के प्रतिनिधित्व पर तबतक कोई प्रभाव पड़ेगा, जबतक कि उस समय वर्तमान विधान-सभा का विघटन न होगा।

१७१. (१) विधान-परिषद् वाले राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या उस राज्य की विधान-सभा के सदस्यों को समस्त संख्या की एक चौथाई से अधिक न हो। परन्तु किसी अवस्था में किसी राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों को समस्त संख्या चालीस से कम न होगी। (२) जबतक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध नहीं करे तबतक किसी राज्य को विधान-परिषद् की रचना खंड (३) में उपवन्धित रीति से होगी। (३) किसी राज्य की विधान परिषद् के सदस्यों को समस्त संख्या का—(क) यथाशक्य तृतीयांश उस राज्य में की नगरपालिकाओं, जिला मंडलियों तथा अन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों के, जैसे कि संसद् विधि द्वारा उल्लिखित करे, सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचकमंडलों द्वारा निर्वाचित होगा; (ख) यथाशक्य द्वादशांश उस राज्य में निवास करनेवाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष से स्नातक है अथवा, जो कम-से-कम तीन वर्ष से ऐसी अर्हताओं को धारण किये हुए हैं जो संसद् निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन वैसे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक की अर्हताओं के

तुल्य विहित की गयी हो; (ग) यथाशक्य द्वादशांश ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने निर्वाचक-मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्न-स्तर की ऐसी शिक्षा-संस्थाओं के पढ़ाने के काम में कम-से-कम तीन वर्ष से लगे हुए हैं जैसी कि संसद् निर्मित विधि के द्वारा या अधीन विहित की जायें; (घ) यथाशक्य तृतीयांश राज्य की विधान-सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा जो सभा के सदस्य नहीं हैं; (ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा उस रीति से नाम-निर्देशित होंगे जोकि इस अनुच्छेद के खंड (५) में उपबन्धित हैं। (४) खंड (३) के उपखण्ड (क), (ख) और (ग) के अधीन निर्वाचित होनेवाले सदस्य ऐसे प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में चुने जायेंगे, जैसे कि संसद् निर्मित किसी विधि के अधीन या द्वारा विहित किये जायें; तथा उक्त उपखंडों के, और उपखंड (घ) के, अधीन होनेवाले निर्वाचन अनुपाती-प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होंगे। (५) खण्ड (३) के उपखण्ड (ङ) के अधीन राज्यपाल द्वारा नाम-निर्देशित किये जानेवाले सदस्य ऐसे होंगे जिन्हें निम्न प्रकार के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है, अर्थात्—साहित्य, विज्ञान, कला, सह-कारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा।

१७२. (१) प्रत्येक राज्य की प्रत्येक विधान-सभा, यदि पहिले ही विघटित न कर दी जाये तो, अपने प्रथम अधिवेशन के लिये नियुक्त तारीख से पाँच वर्ष तक चालू रहेगी और इससे अधिक

नहीं तथा पाँच वर्ष की उक्त कालावधि की समाप्ति का परिणाम विधान-सभा का विघटन होगा :

परन्तु उक्त कालावधि को, जबतक आपात की उद्घोषणा-प्रवर्त्तन में है, संसद, विधि द्वारा, किसी कालावधि के लिये बढ़ा सकेगी, जो एक वार एक वर्ष से अधिक न होगी, तथा किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् छः मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी। (२) राज्य की विधान-परिषद् का विघटन न होगा, किन्तु उसके सदस्यों में से यथाशक्य निकटतम एक तिहाई संसद् निर्मित विधि द्वारा बनाये गये तद्विषयक उपबन्धों के अनुसार, प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र निवृत हो जायेंगे।

१७४. (१) राज्य के विधानमण्डल के सदन या सदनों को प्रति वर्ष कम-से-कम दो वार अधिवेशन के लिये आहूत किया जायेगा तथा उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिये नियुक्त तारीख के बीच छः मास का अन्तर न होगा। (२) खण्ड (१) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्यपाल, समय-समय पर—(क) सदनों को अथवा किसी सदन को ऐसे समय तथा स्थान पर, जैसा वह उचित समझे, अधिवेशन के लिये आहूत कर सकेगा; (ख) सदन या सदनों का सत्त्रावसान कर सकेगा; (ग) विधान-सभा का विघटन कर सकेगा।

१७५. (१) विधान-सभा को, अथवा राज्य में विधान-परिषद् होने की अवस्था में उस राज्य के विधानमण्डल के किसी एक

सदन को, अथवा साथ समवेत दोनों सदनों को, राज्यपाल सम्बोधित कर सकेगा तथा इस प्रयोजन के लिये सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा। (२) राज्यपाल राज्य के विधानमंडल में उस समय लंबित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश उस राज्य के विधानमंडल के सदन अथवा सदनों को भेज सकेगा तथा जिस सदन को कोई सन्देश इस प्रकार भेजा गया हो वह सदन उस सन्देश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथासुविधा शीघ्रता से विचार करेगा।

१७६. (१) प्रत्येक सत्र के आरम्भ में विधान-सभा को, अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था में साथ समवेत हुए दोनों सदनों को, राज्यपाल सम्बोधन करेगा तथा आह्वान का कारण विधानमंडल को बतायेगा।

(२) सदन या किसी भी सदन की प्रक्रिया के विनियामक नियमों से ऐसे अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयों की चर्चा के हेतु समय रखने के लिये तथा सदन के अन्य कार्य पर इस चर्चा को पूर्ववतिता देने के लिये उपबंध किया जायेगा।

१७७. राज्य के प्रत्येक मंत्री और महाधिवक्ता को अधिकार होगा कि वह उस राज्य की विधान-सभा में, अथवा राज्य में विधान-परिषद् होने की अवस्था में दोनों सदनों में, बोले तथा दूसरे प्रकार से उनकी कार्यवाहियों में भाग ले तथा विधानमंडल की किसी समिति में, जिसमें उसका नाम सदस्य के रूप में दिया गया हो, बोले तथा दूसरे प्रकार से कार्यवाहियों में भाग ले, किन्तु इस अनुच्छेद के आधार पर उसको मत देने का हक़ न होगा।

२१०. (१) भाग १७ में किसी बात के होते हुए भी किन्तु अनुच्छेद ३४८ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के विधान मंडल में कार्य राज्य की राजभाषा या भाषाओं में या हिन्दी में या अंगरेजी में किया जायेगा : परन्तु यथास्थिति विधान-सभा का अध्यक्ष या विधान-परिषद का सभापति अथवा ऐसे रूप में कार्य करनेवाला व्यक्ति किसी सदस्य को जो उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अपनी मातृभाषा में सदन को सम्बोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा। (२) जबतक राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे, तबतक इस संविधान के प्रारम्भ से पन्द्रह वर्ष की कालावधि की समाप्ति के पश्चात् यह अनुच्छेद ऐसे प्रभावी होगा मानो कि "या अँगरेजी में" ये शब्द उसमें से लुप्त कर दिये गये हैं।

२११. उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कर्त्तव्य पालन में किये गये आचरण के विषय में राज्य के विधान-मंडल में कोई चर्चा न होगी।

अनुच्छेद २१२ के अनुसार न्यायालय विधान-मंडल की कार्यवाहियों की जांच न करेंगे।

राज्यपाल की विधयिनी शक्तियाँ

जिस प्रकार संघीय विषयों में संसद के विश्रान्ति काल में राष्ट्रपति को अध्यादेश प्रख्यापन की शक्ति है उसी प्रकार राज्य के विधान-मंडल के

विश्रान्ति-काल में अनुच्छेद २१३ के उपबन्धों के अन्तर्गत राज्यपाल को भी अध्यादेश प्रख्यापन की शक्ति है।

राज्यों का शासन—

संविधान के अनुसार भारतीय संघ चार प्रकार के राज्यों को समाविष्ट कर बनाया गया है। प्रथम अनुसूची के अन्तर्गत भाग (क) के अन्तर्गत के राज्य राज्यपाल अर्थात् गवर्नरों के शासनाधीन हैं; और भाग (ख) के अन्तर्गत वे राज्य हैं, जो पहिले देशी राज्य थे, उन्हें पूर्ववत् अथवा उनमें सीमा-सम्बन्धी परिवर्तन कर, कई छोटी-छोटी रियासतों को मिलाकर बनाया गया है। ऐसे राज्यों को राज्यपालों के नहीं; राज प्रमुखों के शासनाधीन रखा गया है। पहले जो प्रान्त कहलाते थे, वही अब राज्य कहलाते हैं और उनके गवर्नर राज्यपाल तथा पहले की रियासतें स्वतः अथवा दूसरी से संयुक्त होकर, रियासत के रूप में ही राज्य के रूप में बनायी गयी हैं और उनके लिये राज प्रमुख रखे गये हैं। उनके अधिकार और कार्य प्रायः एकसे हैं, केवल उनकी नियुक्तियों की प्रणाली में अन्तर है। तीसरे भाग (ग) के अन्तर्गत वे राज्य हैं जो संघ के शासनाधीन हैं और संघ चीफ कमिश्नरों द्वारा उनके शासन के लिये उत्तरदायी है। चौथे प्रकार का राज्य अण्डमन नीकोबार है जिसके लिये संविधान में विशिष्ट व्यवस्थाएँ हैं। उक्त राज्यों की तालिका इस प्रकार है :

भाग (क) के राज्य—

(१) आसाम, (२) उड़ीसा (३) पंजाब, (४) पश्चिमी बंगाल,

(५) बिहार (६) मद्रास, (७) मध्यप्रदेश, (८) बम्बई और (९) उत्तर प्रदेश ।

भाग (ख) के राज्य—

संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (ख) के राज्यों में से किस राज्य के साथ किन रियासतों को सम्मिलित किया गया, उनकी सूची इस प्रकार है :—

(१) हैदराबाद (२) जम्मू और काश्मीर (३) मध्य भारत (इसके अन्तर्गत अलीराजपुर, बरवानी, देवास, धार, ग्वालियर, इन्दौर, जावड़ा, झबुआ, खिलाहीपुर, नरसिंहगढ़, राजगढ़, रतलाम, सैलाना, सीतामऊ, जोबाट, कठिवाड़ा, कुरपई, मठवार और पीपलोदा) (४) मैसूर (५) पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्यसंघ (इसके अन्तर्गत पटियाला, कपूरथला, मलरे-कोटला, फरीद कोट, नभा, झींद, नलगढ़, कलसिया और पजाब रियासत) (६) राजस्थान (इसके अन्तर्गत अलवर, भरतपुर, जयपुर, धौलपुर, करौली, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, बाँसवाड़ा, बूँदी, डूँगरपुर, झालवाड़ा, किसनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, टोंक और उदयपुर ।) (७) त्रिवांकुर-कोचीन (इसके अन्तर्गत त्रिवांकुर और कोचीन) ।

भाग (ग) के राज्य—

संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (ग) के राज्यों में से किस राज्य के साथ किन रियासतों को सम्मिलित किया गया उनकी सूची इस प्रकार है—

(१) अजमेर (१) भूपाल (३) विलासपुर (४) कुर्ग (५) दिल्ली (६) हिमालय प्रदेश (इसके अन्तर्गत बछल, बघट, बलसन, बशहर, भज्जी, बीजा, धरकोठी, धामी, जुब्बल, कोंथल, कुमारसाईं, कुनिहार, कुठार, महलोग,

सांगरी, मंगल, सिरमो, थरोंच, चम्वा, मंडी और सुकेत की पहाड़ी रियासतें) (७) कच्छ (८) त्रिपुरा (इसीके अन्तर्गत अगरतल्ला) (८) मणिपुर (इसीके अन्तर्गत इम्फल) (९) विन्ध्य प्रदेश (इसके अन्तर्गत अजयगढ़, बावनी, बरौंध, बिजावर, छतरपुर, चरखारी, दतिया, मैहर, नागोद, ओड़छा, पन्ना, रीवाँ, समथर, अलीपुरा, बांका, पहारी, बारी, बेकुण्डा, बिहाट, भुजन, भुखई, गौरीहर, गरौली, जासो, जिगना, कामतारजौला, खनियाधान, कोठी, लुगासी, नैगावर, रेबई, पहाड़ा; पालदेव; नयागाँव; सरीला; सोहवल; तराँव और टोरी फतहपुर)।

राज्यपाल और राज प्रमुख—

भाग (क) के राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सरकारी मुहरयुक्त पत्र द्वारा होती है और राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त वह पद धारण करेगा; उसका भारत का नागरिक तथा ३५ वर्ष की आयु का होना अनिवार्य है। उसके रहने के निवासस्थान तथा संसद द्वारा निर्धारित वेतन एवं भत्ता मिलता है। राज्यपाल संसद अथवा राज्य के विधान-मंडल का सदस्य नहीं हो सकता और उसका कोई सदस्य राज्यपाल नियुक्त हो जाय तो उसकी नियुक्ति की तिथि से उसकी सदस्यता का स्थान रिक्त समझ लिया जायगा। भाग (ख) के राज्यों के राज प्रमुखों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है; राज प्रमुख उसी राज्य का होगा जिसका राज्य सम्मिलित किया गया है। उसे कोई वेतन नहीं; केवल भत्ता मिलेगा। राज प्रमुख होने पर उसे भी संसद अथवा विधान-मंडल का सदस्य रहनेका अधिकार नहीं है। हैदराबाद तथा जम्मू-काश्मीर के राज प्रमुख के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध हैं। इनके

अनुसार हैदराबाद का निजाम तथा जम्मू काश्मीर का महाराज ही; क्रमशः हैदराबाद तथा जम्मू-काश्मीर के राज प्रमुख होंगे।

राज्यों की कार्यपालिका शक्ति राज्यपालों और राज प्रमुखों में निहित है, जिसका संचालन मंत्रिमण्डलों द्वारा अथवा परिस्थिति विशेष में—आपातकाल की स्थिति में; स्वयं राज्यपालों और राज प्रमुखों द्वारा; यथा स्थिति; होगा। विधेयकों के पारित होने पर उन्हें उनकी स्वीकृति के लिये उनके समक्ष रखा जायगा और उनकी अनुमति प्राप्त होने पर ही उन्हें अधिनियमित समझा जायगा। वित्तीय विधेयकों पर उनकी स्वीकृति अनिवार्य है। उन्हें विधेयकों को, अनुमति देने के पूर्व, पुनः विधानमण्डलों में पुनर्विचार के लिये भेजने का अधिकार है; किन्तु मूल रूप में ही अथवा संशोधित रूप में यदि वह विधेयक पुनः पारित होजाय तो उन्हें अनुमति देनी ही होगी। विधान-मण्डलों का अधिवेशन जब न हो, तब अनिवार्य आवश्यकताओं में, उन्हें अध्यादेश—आर्डिनेन्स निकालने का भी अधिकार है। अधिवेशन होने पर यदि अध्यादेश कानून के रूप में स्वीकार न कर लिया जाय तो छ सप्ताह समाप्त होते ही अध्यादेश भी स्वतः समाप्त होजायगा। अध्यादेशों को लेकर उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। ऐसे विषय जो राष्ट्रपति के अधीन हैं और जिनपर उसकी अनुमति के बिना कानून नहीं बनाया जासकता—कोई राज्य-पाल अथवा राज प्रमुख अपने राज्य में अध्यादेश जारी नहीं कर सकता। राज्य द्वारा सम्पत्ति अर्जित करने, सप्तम अनुसूची के "समवर्ती" सूची के प्रगणित विषयों में, जिनपर राज्य द्वारा प्रस्तावित विधेयक संसद द्वारा निर्मित विधि के विपरीत हो, राज्यपाल या प्रमुख अध्यादेश नहीं निकाल सकते। संसद द्वारा सामाजिक जीवन के लिये अनिवार्य घोषित वस्तुओं के क्रय-विक्रय सम्बन्धी

करों के विषय में भी राष्ट्रपति की अनुमति के बिना राज्यपाल अथवा प्रमुख स्वेच्छापूर्वक अध्यादेश नहीं निकाल सकते। वित्तीय विधेयकों पर उसकी सिफारिशें सर्वथा अनिवार्य हैं। न्याय-सम्बन्धी उसके अधिकारों में क्षमादान, दण्ड का परिहार, अथवा उसे कम करने अथवा स्थगित करने का भी उसे अधिकार है। राज्यपाल अथवा राज प्रमुख अपने राजकीय कार्यों के लिये किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं है। उसकी पदावधि के भीतर उसके विरुद्ध वारन्ट नहीं निकल सकता, वह गिरफ्तार नहीं किया जासकता और दीवानी मामलों में भी उसे दो मास की नोटिस देनी होगी और उसकी समाप्ति के पूर्व कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जासकती। उसके पद-ग्रहण के पूर्व के कार्यों से भी सम्बन्धित किसी मामले में भी यही नियम लागू है। राष्ट्रपति की भांति उसके विरुद्ध महाभियोग की व्यवस्था नहीं है।

विधान-मण्डल के दोनों अथवा एक भवन के अधिवेशनों को बुलाने, स्थगित करने अथवा भंग करदेने का, दोनों भवनों की संयुक्त बैठक बुलाने और उसके समक्ष भाषण देने का राज्यपाल को अधिकार है जिसमें वह शासन-सम्बन्धी कार्यों एवं नीतियों का सिंहावलोकन एवं भावी निर्देश करेगा और भाषण के पश्चात् सदस्य उसपर बहस करेंगे। अपनी ओर से वह विधान-मण्डल में विचारार्थ सन्देश भेज सकता है, जिसपर भवन को शीघ्र से शीघ्र विचार करना होगा। मंत्रिमण्डल की सलाह से ही राज्यपाल काम करेगा, किन्तु शासन नीति में उसकी योग्यता एवं व्यक्तित्व की छाप अवश्य ही पड़ेगी और पब्लिक सर्विस कमिशन (लोक सेवा-आयोग) एडवोकेट-जेनरल (महाधिवक्ता) जैसे पदों की नियुक्ति भी उसकी मंत्रणा से होगी। अतः यों तो राज्यपाल संविधान के अन्तर्गत राज्य का केवल वैधानिक प्रधान है,

किन्तु शासन पर उसका प्रभाव सुनिश्चित है, यद्यपि राज्यपाल बाह्यरूप में मन्त्रिमंडल द्वारा संचालित शासन के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा। राज्यपाल की इसी वैधानिक स्थिति को देखते हुए सर होमी मोदी ने, जब वे उत्तर प्रदेश के गवर्नर नियुक्त हुए, एक अभ्यर्थना-सभा में मजाक करते हुए कहा था कि—मैं जब राज्यपाल नियुक्त होकर जा रहा हूं, तो अभी मैं क्या कहूँ। पता नहीं, मुझे कितनी दूकानों का उद्घाटन करना होगा, कितने समारोहों का सभापतित्व करना होगा कितने कुओं की नींव डालनी होगी, कितनी संस्थाओं का पारितोषिक वितरणोत्सव का सभापतित्व करके पारितोषिक बाँटना होगा। नये संविधान के अन्तर्गत तो हम गवर्नरों के लिये यही सब कार्य सौंपे गये हैं।

मंत्रि-मंडल—

राज्य का वास्तविक शासक मंत्रिमण्डल है। मंत्रिमण्डल संयुक्त रूप में विधान-मण्डल के प्रति जिम्मेदार होगा। दैनिक शासन कार्य में प्रत्येक मंत्री स्वाधीन है, किन्तु नीति-सम्बन्धी निर्णय मन्त्रिमंडल करेगा। प्रधान मंत्री की नियुक्ति बहुमत प्राप्त दल के नेता की राज्यपाल द्वारा होगी और दूसरे मंत्री प्रधान मंत्री के परामर्श से नियुक्त किये जायेंगे। प्रत्येक मंत्री प्रधान मंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा। किसी भी मंत्री के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव मन्त्रिमंडल के विरुद्ध समझा जायगा। राज्य के समस्त शासनसूत्र का संचालन, विधेयक तैयार करना, बजट बनाकर उपस्थित करना, विधानमंडल में आलोचनाओं का उत्तरप्रत्युत्तर—सभी कार्य मंत्रिमण्डल करेगा।

बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में पिछड़ी जातियों की बहुत बड़ी

संख्या है, अतः उनकी उन्नति एवं विकाश के लिये उक्त राज्यों में विशेष मंत्रियों के लिये व्यवस्था है। मंत्रियों के सहायतार्थ पार्लमेण्टरी सेक्रेटरी—सभासचिव भी नियुक्त किये जासकेंगे।

यद्यपि संविधानिक उपबन्धों के अनुसार मंत्री राज्यपाल अथवा यथा-स्थिति, राज प्रमुख की पसन्दगी तक अपने पदों पर बने रहेंगे, किन्तु व्यव-हारतः विधान-मण्डलों द्वारा जबतक वे अविश्वास के प्रस्ताव पर हटाये न जायें, तबतक वे शासनारूढ़ रहेंगे।

राज्यों के विधान मण्डल—

संविधान के अनुच्छेद ३८५ के अन्तर्गत वयस्क मताधिकार के अनुसार होनेवाले नये निर्वाचनों के पहिले प्रन्तीय व्यवस्थापिका परिषदें ही राज्य के विधानमण्डल के रूप में कार्य करती रहेंगी। इन अन्तर्कालीन उपबन्धों के अनुसार वर्तमान में, नये चुनावों के पहिले की स्थिति, यह है :—

बम्बई, मद्रास, उत्तरप्रदेश और बिहार में विधानमण्डलों के दो भवन हैं। बंगाल और आसाम में भी पहिले दो भवन थे, किन्तु देश के विभाजन के पश्चात् उक्त प्रान्तों के बँटवारे के कारण उनमें एक भवन ही रह गया। शेष प्रान्तों में केवल एक भवन है। उक्त उच्च भवनों—कौंसिल में विभिन्न राज्यों (प्रान्तों) की सदस्य-संख्या इस प्रकार है :

मद्रास ५६; बम्बई ३०; उत्तरप्रदेश ६० और बिहार ३०।

नीचे के भवनों (विधान-सभा—व्यवस्थापिका परिषद) की सदस्य-संख्या इस प्रकार है :

मद्रास २१५; बम्बई १७५; पश्चिमी बंगाल ८४; उत्तरप्रदेश २२८; पंजाब ७६; बिहार १५२; मध्यप्रदेश ११२; आसाम ७१ और उड़ीसा ६०।

रियासतों के विलीनीकरण के पश्चात् कतिपय राज्यों के भवनों की संख्या में वृद्धि होगयी है। निम्न राज्यों की सीमाओं में स्थित रियासतें उनमें सम्मिलित कर दी गयी हैं :

(१) **बिहार**—सरायकेला, सरसावाँ।

(२) **बम्बई**—अकाल कोट, औंध, भोर, जमखंडी, जाठ, कुरुन्दवाड़, मुढ़ोर, रामदुर्ग, साँगली, जंजीरा, काल्टन, सवनूर, सवन्तवाड़ी, वाडी, जागीर, मिरज, बल्सी नोर, बसण्डा, बरिया, खम्भाट, छोटा उदयपुर, धर्मपुर, जवहर, लूलवाड़ा, राजपीपला, सचीन, साँल, ईदर, राधनपुर, विजयनगर, पालनपुर, जम्मुगोढ़ा, सुरगना, दाँता, सिरोही, कोल्हापुर और बड़ौदा।

(३) **मध्यप्रदेश**—बस्तर, चन्द्रभाकर, छुईखदान, जसपुर, कांकर, कबरधा, खैरागढ़, कोरिया, नन्दगाँव, रायगढ़, सक्ती, सारंगगढ़ सरगूजा, उदयपुर और मकरई।

(४) **उड़ीसा**—अठगढ़, औंमलिक, बमरा, बरम्बा, वौध, बोनई, दसपल्ल, ढेकनल, गंगपुर, हिण्डोल, कलहांडी, क्योंभर, खण्डपारा, नरसिंहपुर, नयागढ़, नीलागार, पाल लहारा, पटना, रेराखोल, रायपुर, सोनपुर, तलचर, टिगरिया और मयूरभंज।

(५) **मद्रास**—बेंगनपल्ली, पद्दूकोटा और सन्दूर।

(६) **पंजाब**—लोहारू, दुजाना और पटौधी।

(७) **प० बंगाल**—कूचबिहार।

(८) **उत्तर प्रदेश**—टेंहरी गढ़वाल, रामपुर और बनारस।

राज्यों के विधानमण्डल—

नये संविधान के अन्तर्गत राज्य के विधानमण्डलों की स्थिति का उल्लेख किया जाचुका है। उनमें सदस्यों की संख्या किस प्रकार रहेगी, इसका उल्लेख १२ अप्रैल १९५० को एक निर्वाचन-सम्बन्धी विधेयक में है, जिसे विधि सचिव डा० अम्बेदकर ने उपस्थित किया था। उसके अनुसार विभिन्न राज्यों की विधान-सभाएँ इस प्रकार रहेंगी :—

आसाम १०८, बिहार ३३०, बम्बई ३१५, मध्यप्रदेश २३२, मद्रास ३७५, उड़ीसा १४०, पंजाब १२६, उत्तर प्रदेश ४३०, पश्चिमी बंगाल २३६, हैदराबाद १७५, मध्य भारत ९९, मैसूर ९९, पूर्वी पंजाब रियासती संघ ६०, राजस्थान १६०, सौराष्ट्र ६०, और त्रावणकोर-कोचीन १०८। इनके अतिरिक्त वे सदस्य हैं जो एंग्लो-इंडियनों के प्रतिनिधि-स्वरूप संविधान के अनुच्छेद ३३३ के अनुसार मनोनीत होंगे।

जिन राज्यों में दो भवन होंगे उनमें विधान-परिषद के सदस्य इस प्रकार होंगे—

बिहार ६८, बम्बई ५६, मद्रास ७५, पंजाब ४०, उत्तर प्रदेश ८६, पश्चिमी बंगाल ५१ और मैसूर ४०।

विधान-सभाओं के लिये २१ वर्ष अथवा उससे अधिक का कोई भारतीय वयस्क नागरिक जिसका मस्तिष्क विकृत नहीं है, जो दिवालिया नहीं है; जो किसी नैतिक भयंकर अपराध अथवा चुनाव-सम्बन्धी अपराध में दण्डित होकर अयोग्य घोषित नहीं किया गया है, मतदान का अधिकारी है। १ जनवरी १९४९ को २१ वर्ष की आयु पूरी करनेवाला व्यक्ति वयस्क समझा जायगा।

विधान-सभा की सदस्यता के लिये अभ्यर्थी—उम्मेदवार का २५ अथवा उससे अधिक वर्ष की आयु का होना चाहिये। विधान-सभा का कार्यकाल ५ वर्ष का होगा, यदि वह कारण विशेष से इसके पहिले ही भंग न कर दी जाय। विधान-परिषद के लिये उम्मेदवार का भारतीय नागरिक तथा कम-से-कम ३५ वर्ष की आयु का होना चाहिये। उसमें एतद्विषयक संसद द्वारा निर्धारित योग्यताएँ होनी चाहियें। विधानमण्डलों की गणपूर्ति—(कोरम) संख्या कम-से-कम सदस्यों की दशमांश संख्या होगी। हिन्दी या अँगरेजी, अथवा राज्य की भाषा में कार्यवाही होगी, विधान-सभा अथवा विधान-परिषद का सदस्य न होते हुए यदि कोई व्यक्ति उसमें भाग लेगा, तो उसपर ५००रु० प्रतिदिन जुर्माना किया जासकता है।

धन सम्बन्धी विधेयकों के सम्बन्ध में संघ संसद की लोक-सभा के अधिकार और उनकी स्वीकृति की जिस प्रक्रिया का उल्लेख है, प्रायः वैसी ही व्यवस्था राज्य के विधान-मण्डल की विधान-सभा के सम्बन्ध में की गयी है। सभा में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा धन-विधेयकों का निर्णय हो, यही गणतंत्रात्मक प्रणाली है, अतः विधान-मण्डल के उच्च भवन द्वारा यदि कोई धन-सम्बन्धी विधेयक स्वीकृत नहीं होता तो भी यदि निम्न भवन उसे दुबारा स्वीकृत करता है तो वह स्वीकृत समझा जायगा। इसका अर्थ यह है कि लोक-प्रतिनिधियों का ही निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जायगा। निम्न भवन (Lower House) **द्वारा धन विधेयक स्वीकार होने पर वह उच्च भवन** (Upper House) **के पास भेजा जायगा। उच्च भवन**

यदि १४ दिन के भीतर उसपर अपनी सिफारिशें भेज देता है, तो निम्न भवन उसपर विचार करेगा, किन्तु उन सिफारिशों को मानने अथवा न मानने के लिये निम्न भवन स्वतंत्र है। उसके निर्णय के पश्चात् उक्त विधेयक दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। यदि उक्त १४ दिनों के भीतर उच्च भवन कोई सिफारिश नहीं भेजता तो भी वह स्वीकृत समझा जायगा।

अध्यक्ष

विधानमण्डल का प्रत्येक भवन यथा सम्भव शीघ्र अपने दो सदस्यों को अपना अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष चुनेगा। अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष का पद रिक्त होने पर भवन का कोई भी सदस्य यथास्थिति अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष चुना जासकेगा। वे त्यागपत्र देकर अपने स्थान से हट सकते हैं, अथवा तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा उन्हें हटाया जासकता है। इस आशय की सूचना के लिये कम-से-कम १४ दिनों की अवधि अनिवार्य होगी। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को उनकी पदावधि में ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जिन्हें विधान-मण्डल निर्धारित करे: राज्य की विधान-सभा और विधान-परिषद् के सदस्यों को भी ऐसे वेतन और भत्ते मिलेंगे जिन्हें विधान-मण्डल समय-समय पर विधि द्वारा निर्धारित करे। राज्य के विधान-मण्डलों की शक्तियाँ राज्य के अन्तर्गत प्रायः उसी प्रकार की हैं जैसी संघ के लिये संसद् की। विधान प्रक्रिया तथा सदस्यों के अधिकार भी प्रायः वैसे ही हैं।

भाग (ग) और (घ) के राज्य—

संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (ग) और (घ) के अन्तर्गत राज्यों के प्रशासन का भार राष्ट्रपति पर है। चीफ कमिश्नरों अथवा उपराज्यपालों द्वारा शासन की व्यवस्था है। राष्ट्रपति किसी पड़ोसी राज्य को भी प्रशासन का अधिकार सौंप सकता है किन्तु ऐसा करने के पूर्व वह राज्य का लोकमत जान लेगा। संसद् द्वारा निर्मित विधि के अनुसार शासन व्यवस्थाएँ निकाय द्वारा अथवा मंत्रणा-परिषद् द्वारा की जासकती हैं। (ग) के राज्यों में संसद् विधि द्वारा उच्च न्यायालयों की स्थापना कर सकती है। उनके विषय में प्रशासन-सम्बन्धी अन्य व्यवस्थाएँ संसद् आवश्यकतानुसार विधि द्वारा कर सकेगी। भाग (घ) में अण्डमन और निकोबार हैं और उसके प्रशासन का अधिकार और उनके अन्तर्गत शान्ति और सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति पर है।

—:*:—

उन्नीसवाँ अध्याय

संघ और राज्यों का सम्बन्ध

संघ और राज्यों की शासन व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में पृथक पृथक उल्लेख हैं, किन्तु उनमें विषय विशेष को लेकर पारस्परिक संघर्ष न हो, और दोनों के व्यवस्थापक, प्रबन्धक एवं न्यायिक अधिकारों की सीमाएँ निर्धारित कर दी जायें इसके लिये संविधान में यथेष्ट सतर्कता रखी गयी है। इन विषयों का उल्लेख संविधान की सप्तम अनुसूची में है जिसमें तीन सूचियाँ हैं। (१) "संघ सूची" के अन्तर्गत वे विषय हैं जिनपर केवल संघ की संसद् को व्यवस्थापक अधिकार हैं। (२) "राज्यसूची" है जिसमें प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में राज्य को अधिकार प्राप्त हैं और तीसरी "समवर्ती सूची" है जिसमें प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में विधि निर्माण का अधिकार संघ तथा राज्य की व्यवस्थापिकाओं को समान रूप से है। केवल इतना ध्यान रखना होगा कि उक्त विषयों में से किसी के सम्बन्ध में संसद् द्वारा कोई विधि निर्मित है तो राज्य उसके विपरीत व्यवस्था नहीं कर सकता। उक्त सूचियाँ इस प्रकार हैं :—

सूची १—संघ-सूची

१. भारत की तथा उसके प्रत्येक भाग की प्रतिरक्षा जिसके अन्तर्गत प्रतिरक्षा के लिये तैयारी तथा सारे ऐसे कार्य भी हैं, जो युद्धकाल में युद्ध को चलाने और उसकी समाप्ति के पश्चात् सफलतापूर्वक सैन्य वियोजन में सहायक हों। २. नौ, स्थल और विमान बल; संघ के कोई अन्य सशस्त्र बल। ३. कटक क्षेत्रों का परिसीमन; ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वायत्त शासन, ऐसे क्षेत्रों के अन्दर कटक प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ; तथा ऐसे क्षेत्रों में गृहवासन का विनियमन (जिसके अन्तर्गत किराये का नियन्त्रण भी है।) ४. नौ, स्थल और विमान बल की कर्मशालायें। ५. शस्त्रास्त्र, अग्न्यास्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक। ६. अणु शक्ति तथा उसके उत्पादन के लिये आवश्यक खनिज सम्पत्। ७. संसद निर्मित विधि द्वारा प्रतिरक्षा के प्रयोजन के लिये अथवा युद्ध चलाने के लिये आवश्यक घोषित किये गये उद्योग। ८. केन्द्रीय गुप्त वार्ता और अनुसंधान विभाग। ९. भारत की प्रतिरक्षा, विदेशीय कार्य या सुरक्षा-सम्बन्धी कारणों से निवारक निरोध; इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति। १०. विदेशीय कार्य; सब विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेश से सम्बन्ध होता है। ११. राजनयिक; वाणिज्य-दूतिक और व्यापारिक प्रतिनिधित्व। १२. संयुक्त राष्ट्र-संगठन। १३. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों; संस्थाओं और अन्य निकायों में भाग लेना तथा उनमें किये गये विनिश्चयों की

अभिपूर्ति। १४. विदेशों से संधि और करार करना तथा विदेशों से की गयी संन्धियों; करारों और अभिसमयों की पूर्ति। १५. युद्ध और शान्ति। १६. विदेशीय क्षेत्राधिकार। १७. नागरिकता; देशीयकरण तथा अन्यदेशीय। १८. प्रत्यर्पण। १९. भारत में प्रवेश और उसमें से उत्प्रवासन और निर्वासन, पार-पत्र और दृष्टांक। २०. भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ यात्रायें। २१. महासमुद्र या वायु में की गयी जल दस्युता और अपराध; स्थल या महासमुद्र या वायु में राष्ट्रों की विधि विरुद्ध किये गये अपराध। २२. रेल। २३. राजपथ जिन्हें संसद् निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय राज्यपथ घोषित किया गया है। २४. यन्त्रचालित जलयानों के विषय में ऐसे अन्तर्देशीय जलपथों में नौ वहन और नौ परिवहन जो संसद् निर्मित विधि द्वारा राष्ट्रीय जल-पथ घोषित किये गये हैं; तथा ऐसे जलपथों के नियम। २५. समुद्र नौ वहन और नौ परिवहन जिसके अन्तर्गत ज्वार-जल नौ वहन और नौ परिवहन भी है, वणिक् वेत्तीय शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जानेवाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन। २६. प्रकाशस्तम्भ; जिनके अन्तर्गत प्रकाशपोत; आकाशदीप तथा नौ वहन और विमानों की सुरक्षितता के लिये अन्य उपबन्ध भी हैं। २७. वे पत्तन जिनको संसद् निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महापत्तन घोषित किया गया है, जिसके अंतर्गत उनका परिसीमन तथा उनमें पत्तन

प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ भी हैं : २८. पत्तन निरोधा, जिसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध चिकित्सालय भी हैं; नाविक और समुद्रीय चिकित्सालय : २६ वायु-पथ; विमान और विमान परिवहन, विमानक्षेत्र के उपबन्ध, विमान यातायात और विमान क्षेत्रों का विनियमन और संघटन, वैमानिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी गई ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन। ३०. रेल-पथ, समुद्र या वायु से अथवा यन्त्र-चालित यानों में राष्ट्रीय जलपथों से यात्रियों और वस्तुओं का वहन। ३१. डाक और तार, दूरभाष, बेतार, प्रसारण और अन्य समरूप संचार। ३२. संघ की सम्पत्ति और उससे उत्थित राजस्व किन्तु प्रथम अनुसूची के भाग (क) या (ख) में उल्लिखित किसी राज्य में अवस्थित सम्पत्ति के विषय में , जहांतक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे वहाँतक, उस राज्य के विधान के अधीन रहते हुए। ३३. संघ के प्रयोजनों के लिये सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण। ३४. देशी राज्यों के शासकों की सम्पत्ति के लिये प्रतिपालक अधिकरण। ३५. संघ का लोक-ऋण। ३६. चलार्थ टंकण, और विधि मान्य, विदेशीय विनिमय। ३७ विदेशीय ऋण। ३८. भारत का रक्षित बैंक। ३६. डाकघर बचत बैंक। ४०. भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संघटित लाटरी। ४१. विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य, शुल्क-सीमान्तों को पार करने-वाले आयात और निर्यात, शुल्क सीमान्तों की परिभाषा।

४२. अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य। ४३. व्यापारिक नियमों का, जिनके अन्तर्गत महाजनी, बीमाई और वित्तीय निगम भी हैं किन्तु सहकारी संस्थायें नहीं हैं, निगमन, विनियमन और समापन। ४४. विश्वविद्यालयों को छोड़कर ऐसे नियमों का, चाहे वे व्यापारिक हों या नहीं, जिनके उद्देश्य एक राज्य तक सीमित नहीं हैं, निगमन, विनियमन और समापन। ४५. महाजनी। ४६. विनिमय-पत्र, चेक, बचन-पत्र तथा ऐसी अन्य लिखतें। ४७. बीमा। ४८. श्रेष्ठिचत्वर और वादा बाजार। ४९. एकस्व, आविष्कार और रूपांकन, प्रतिलिप्यधिकार, व्यापार चिन्ह और पण्य चिन्ह। ५० बाँटों और मापों का मान स्थापन। ५१. भारत से बाहर निर्यात की जानेवाली अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य को भेजी जानेवाली वस्तुओं के गुणों का मान-स्थापन। ५२. वे उद्योग जिनके लिये संसद ने विधि द्वारा घोषणा की है कि लोक-हित के लिये उनपर संघ का नियन्त्रण इष्टकर है। ५३. तैल क्षेत्रों और खनिज तैल सम्पत का विनियमन और विकास, पैट्रोलियम और पैट्रोलियम उत्पाद, संसद से विधि द्वारा भयानक रूप से ज्वालाग्रही घोषित अन्य तरल और द्रव्य। ५४. उस सीमातक खानों का विनियमन और खनिजों का विकास जिस तक संघ के नियंत्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद विधि द्वारा लोक-हित के लिये इष्टकर घोषित करे। ५५. श्रम का विनियमन तथा खानों और तैल क्षेत्रों में सुरक्षितता। ५६. उस सीमातक अन्तर्राज्यिक

नदियों और नदी-द्रनों का विनियमन और विकास जिसतक संघ के नियन्त्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् विधि द्वारा लोक-हित के लिये इष्टकर घोषित करे। ५७. जलप्रांगण से परे मछली पकड़ना और मीन-क्षेत्र। ५८ संघ अभिकरणों द्वारा लवण का निर्माण, सम्भरण और वितरण; अन्य अभिकरणों द्वारा लवण के निर्माण; सम्भरण और वितरण का विनियमन और नियंत्रण। ५६. अफीम की खेती; निर्माण तथा निर्यात के लिये विक्रय। ६०. प्रदर्शन के लिये चल चित्रों की मंजूरी। ६१. संघ के नौकरों से संपृक्त औद्योगिक विवाद। ६२. इस संविधान के प्रारम्भ पर राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय, साम्राज्यिक युद्ध संग्रहालय; विक्टोरिया स्मारक; भारतीय युद्ध-स्मारक नामों से ज्ञात संस्थायें तथा भारत सरकार द्वारा पूर्णतः या अंशतः वित्तपोषित तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित ऐसी कोई अन्य तद्रूप संस्था। ६३. इस संविधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थायें तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था। ६४. भारत सरकार से पूर्णतः या अंशतः वित्त पोषित तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित वैज्ञानिक या शिल्पिक शिक्षा संस्थायें। ६५. संघ अभिकरण और संस्थायें जो—(क) वृत्तिक, व्यावसायिक या शिल्प प्रशिक्षण, जिनके अन्तर्गत आरक्षी पदाधिकारियों का प्रशिक्षण भी है, के लिये है,

अथवा (ख) विशेष अध्ययनों या गवेषणा की उन्नति के लिये है, अथवा (ग) अपराध के अनुसंधान या पता चलाने में वैज्ञानिक या शिल्पिक सहायता के लिये है। ६६. उच्चतर शिक्षा या गवेषणा की संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और शिल्पक संस्थाओं में एक सूत्रता लाना और मानों का निर्धारण। ६७ संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख तथा पुरातत्वीय स्थान और अवशेष। ६८. भारतीय भू परिमाप, भूतत्वीय, वानस्पतिक, नरतत्वीय, प्राणकीय परिमाप, अन्तरिक्ष शास्त्रीय संस्थाएँ। ६६. जन-गणना। ७०. संघ लोक सेवाएँ, अखिल भारतीय सेवाएँ, संघ लोक-सेवा आयोग, ७१. संघ निवृत्ति वेतन, अर्थात् भारत सरकार द्वारा या भारत की संचित निधि में से दिये जानेवाले निवृत्ति वेतन। ७२. संसद् और राज्यों के विधान-मण्डलों के लिये तथा राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति के पदों के लिये निर्वाचन, निर्वाचन आयोग। ७३. संसद् के सदस्यों, राज्य-परिषद् के सभापति और उप सभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते। ७४. संसद् के प्रत्येक सदन की, तथा प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, संसद् की समितियों अथवा संसद् द्वारा नियुक्त आयोगों के सामने, साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिये व्यक्तियों की उपस्थिति वाध्य करना। ७५. राष्ट्रपति और राज्यपालों की उपलब्धियां, भत्ते, विशेषाधिकार तथा अनुपस्थिति छुट्टी के बारे में अधिकार, संघ के मंत्रियों के वेतन और

भत्ते, नियंत्रक महालेखा-परीक्षक के वेतन, भत्ते और अनुपस्थित छुट्टी के बारे में अधिकार तथा अन्य सेवा-शर्तें। ७६. संघ के और राज्यों के लेखाओं की लेखा-परीक्षा। ७७. उच्चतम न्यायालय का गठन, संघटन, क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ (जिसके अन्तर्गत उस न्यायालय का अवमान भी है) तथा उसमें ली जानेवाली फीस, उच्चतम न्यायालय के सामने विधि-व्यवसाय करने का हक्क रखनेवाले व्यक्ति। ७८ उच्च न्यायालयों के पदाधिकारी और भृत्यों के बारे के उपबन्धों को छोड़कर उच्च न्यायालयों का गठन और संघटन, उच्च न्यायायालयों के सामने विधि-व्यवसाय करनेका हक्क रखनेवाले व्यक्ति। ७९. किसी राज्य में मुख्य स्थान रखनेवाले किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर किसी क्षेत्र में विस्तार तथा ऐसे किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का, ऐसे किसी क्षेत्र से अपवर्जन। ८०. किसी राज्य के आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य में न होनेवाले किसी क्षेत्र पर विस्तार, किन्तु इस प्रकार नहीं कि एक राज्य की आरक्षी, उस राज्य में न होनेवाले किसी क्षेत्र में बिना उस राज्य की सरकार की सम्मति के जिसमें कि ऐसा क्षेत्र स्थित है, शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके, किसी राज्य की आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर रेल क्षेत्रों पर विस्तार। ८१. अन्तर्राज्यीय प्रव्रजन, अन्तर्राज्यीय निरोधा। कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय पर कर।

८३. सीमा-शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क भी है। ८४. भारत में निर्मित या उत्पादित तमाकू तथा—(क) मानव उपयोग के मद्य सारिक पानों; (ख) अफीम, भाँग और अन्य पिनक लानेवाली औषधियों तथा स्वपाकों; को छोड़कर, किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री को अन्तर्गत कर कि जिनमें मद्य सार अथवा उक्त प्रविष्टि की उपकंडिका (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो; अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क। ८५. निगम कर। ८६. व्यक्तियों या समवायों की आस्ति में से कृषि भूमि को छोड़कर उसके मूल-धन मूल्य पर कर; समवायों के मूल-धन पर कर। ८७. कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पत्ति शुल्क। ८८. कृषिभूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकारों के बारे में शुल्क। ८९. रेल या समुद्र या वायु से ले जानेवाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, रेल के जन भाड़े और वस्तु भाड़े पर कर। ९०. मुद्रांक शुल्क को छोड़कर श्रेष्ठिचत्वर और वादा बाजार के सौदों पर कर। ९१. विनिमय पत्रों, चेकों, वचन पत्रों, वहन पत्रों, प्रत्यय पत्रों, बीमा पत्रों, अंशों के हस्तान्तरण, ऋण पत्रों, प्रतिपत्रियों और प्राप्तियों के सम्बन्ध में लगनेवाले मुद्रांक-शुल्क की दर। ९२. समाचार पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होनेवाले विज्ञापनों पर कर। ९३. इस सूची से विषयों में से किसी से सम्बद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध। ९४. इस सूची के विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिये जांच, परिमाप और सांख्यकी। ९५. उच्चतम न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों के इस

सूची में के विषयों में से किसी के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार और शक्तियां, नावाधिकरण-क्षेत्राधिकार। ९६ किसी न्यायालय में लिये जानेवाली फीसों को छोड़कर इस सूची में के विषयों से किसी के बारे में फीस। ९७. सूची (२) या (३) में से किसी में अवर्णित किसी कर के सहित उन सूचियों में अप्रगणित कोई अन्य विषय।

सूची २—राज्य-सूची

१. सार्वजनिक व्यवस्था (किन्तु असैनिक शक्ति की सहायता के लिये संघ के नौस्थल या विमान बलों या किन्हीं अन्य बलों के प्रयोग को अन्तर्गत न करते हुए)। २. आरक्षी जिनके अन्तर्गत रेलवे और ग्राम आरक्षी भी हैं। ३. न्याय-प्रशासन; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों का गठन और संघटन; उच्च न्यायालय के पदाधिकारी और सेवक; भाटक और राजस्व न्यायालयों की प्रक्रिया, उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों में ली जानेवाली फीसें। ४. कारागार, सुधारालय, बोरस्टल संस्थायें और तद्रूप अन्य संस्थायें और उनमें निरुद्ध व्यक्ति; कारागारों और अन्य संस्थाओं के उपयोग के लिये अन्य राज्यों से प्रबन्ध। ५. स्थानीय शासन अर्थात् नगर-निगम, सुधार-प्रन्यास, जिला मण्डलों, खनिज-वसित प्राधिकारियों तथा स्थानीय स्वशासन या ग्राम्य प्रशासन के प्रयोजन के लिये अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन और

शक्तियाँ। ६. सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, चिकित्सालय और औषधालय। ७. भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ यात्राओं को छोड़कर अन्य तीर्थ यात्रायें। ८. मादकपानों अर्थात् मादक पानों का उत्पादन, निर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय और विक्रय। ६. अङ्गहीनों और नौकरी के लिये अयोग्य व्यक्तियों की सहायता। १०. शव गाड़ना और कबरस्थान; शव दाह और श्मशान। ११. सूची एक की प्रविष्टियों ६३, ६४, ६५ और ६६ तथा सूची ३ की प्रविष्टि २५ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए शिक्षा, जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय भी हैं। १२. राज्य से नियंत्रित या वित्तपोषित पुस्तकालय, संग्रहालय या अन्य समतुल्य संस्थायें, संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित से भिन्न प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख। १३. संचार अर्थात् सड़कें, पुल, नौका घाट तथा सूची १ में अनुल्लिखित संचार के अन्य साधन; ट्रामपथ, रज्जु पथ, अन्तर्देशीय जलपथों के विषय में सूची १ और सूची ३ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, यन्त्र चालित यानों को छोड़कर अन्य यान। १४. कृषि, जिसके अन्तर्गत कृषि शिक्षा और गवेषणा, मरकों से रक्षा तथा उद्भिद् रोगों का निवारण भी है। १५. पशु के नस्ल का परिरक्षण, संरक्षण और उन्नति तथा पशुओं के रोगों का निवारण; शालिहोत्री प्रशिक्षण और व्यवसाय। १६. पश्वरोध और पशुओं के अतिचार का निवारण। १७. सूची १ की प्रविष्टि ५६ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए जल, अर्थात् जल सम्भरण, सिंचाई

और नहरें, जल निस्सारण और बन्ध, जल संग्रह और जल शक्ति। १८. भूमि अर्थात् भूमि में या पर अधिकार, भूधृति जिसके अन्तर्गत भू स्वामी और किसानों का सम्बन्ध भी है, तथा भाटक का संग्रहण, कृषि भूमि का हस्तांतरण और अन्य संक्रामण, भूमि सुधार और कृषि सम्बन्धी उधार, उपनिवेषण। १९. वन। २०. वन्य प्राणियों और पक्षियों की रक्षा। २१. मीन-क्षेत्र। २२. सूची १ की प्रविष्टि ३४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए प्रतिपालक अधिकरण, भारग्रस्त और कुर्क सम्पदायें। २३. संघ के नियन्त्रणाधीन विनियमन और विकास के सम्बन्ध में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए खानों का विनियमन और खनिजों का विकास। २४. सूची १ की प्रविष्ट ६४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए उद्योग। २५. गैस, गैस-कर्मशालायें। २६. सूची तीन की प्रविष्ट ३३ के उपउन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के अन्दर व्यापार और वाणिज्य। २७. सूची ३ की प्रविष्टि ३३ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए वस्तुओं का उत्पादन, सम्भरण और वितरण। २८. बाजार और मेले। २९. मान स्थापन को छोड़कर बाट और माप। ३०. साहूकारी और साहूकार, कृषि ऋणिता का उद्धार। ३१. पान्थशाला और पान्थशालापाल। ३२. सूची एक में उल्लिखित निगमों से भिन्न निगमों का और विश्वविद्यालयों का निगमन विनियमन और समापन, व्यापारिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और अन्य अनिगमित समाजें और संस्थायें,

सहकारी समाज। ३३, नाट्यशाला नाटक अभिनय, प्रथम अनुसूची की प्रविष्टि ६० के उपबन्धों के अधीन रहते हुए चाल चित्र, क्रीड़ा, प्रमाद और विनोद। ३४, पण लगाना और जूआ। ३५, राज्य में निहित या उसके स्व वश में की कर्मशालायें, भूमि और भवन। ३६, सुची ३ की प्रविष्टि ४२ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए ऐसे प्रयोजनों के अतिरिक्त सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण। ३७, संसद् निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के विधानमण्डल के लिये निर्वाचन। ३८, राज्य के विधान-मंडल के सदस्यों के, विधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा, यदि विधान-परिषद् है तो उसके सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते। ३६, विधान- और उसके सदस्यों और समितियों की तथा; यदि विधान-परिषद् हो तो, उस परिषद् और उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ; राज्य के विधान-मण्डल की समितियों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिये व्यक्तियों की उपस्थिति वाध्य करना। ४० राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते। ४१, राज्य लोक-सेवायें, राज्य-लोक-सेवा-आयोग। ४२, राज्य-निवृति वेतन अर्थात् राज्य द्वारा अथवा राज्य की संचित निधि में से देय निवृत्ति वेतन। ४३, राज्यकालिक ऋण। ४४, निखात निधि। ४५, भू राजस्व जिसके अन्तर्गत राजस्व का निर्धारण और संग्रहण, भू अभिलेखों का बनाये रखना, राजस्व प्रयोजनों के लिये और स्वत्व अभि-

लेखों के लिये परिमाप और राजस्व का अन्य संक्रमण भी है। ४६. कृषि आय पर कर। ४७. कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क। ४८. कृषि भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क। ४९. भूमि और भवनों पर कर। ५०. संसद से, विधि द्वारा खनिज विकाश के सम्बन्ध में लगाई गयी परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज अधिकार पर कर। ५१. राज्य में निर्मित या उत्पादित निम्नलिखित वस्तु पर उत्पादन शुल्क तथा भारत में अन्यत्र निर्मित या उत्पादित तत्सम वस्तुओं पर उसी या कम दर से प्रति शुल्क—(क) मानव उपभोग के लिये मद्यसारिक पान; (ख) अफीम, भाँग और अन्य पिनक लानेवाली औषधियाँ और स्वापक किन्तु ऐसो औषधीय और प्रसाधनीय सामग्रियों को छोड़ कर जिनमें मद्यसार अथवा इस प्रविष्ट की उपकंडिका ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो। ५२. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग; प्रयोग या विक्रय के लिये वस्तुओं के प्रवेश पर कर। ५३. विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर। ५४. समाचारपत्रों को छोड़ कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर। ५५. समाचार-पत्रों में प्रकाशित होनेवाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर। ५६. सड़कों या अन्तर्देशीय जलपथों पर ले जाये जानेवाले वस्तुओं और यात्रियों पर कर। ५७. सड़कों पर उपयोग के योग्य यानों पर, चाहे वे यंत्रचालित हों या न हों तथा जिनमें सूची ३ की प्रविष्टि ३५ के उपबन्धों के अधीन ट्राम गाड़ियाँ भी अंतर्गत हैं, कर। ५८. पशुओं और नौकाओं पर

कर। ५९. पथ कर। ६०. वृत्तियों व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर। ६१. प्रति व्यक्ति कर। ६२. विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अन्तर्गत आमोद, विनोद, पण लगाने और जूआ खेलने पर भी कर है। ६३. मुद्रांक-शुल्क की दरों के सम्बन्ध में सूची (१) के उपबन्धों में उल्लिखित दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेजों के बारे में मुद्रा शुल्क की दर। ६४. इस सूची में के विषयों में से किसी से सम्बद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध। ६५. इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ। ६६. किसी न्यायालय में लिये जानेवाले शुल्कों को छोड़कर इस सूची में के विषयों में से किसीके बारे में शुल्क।

सूची ३—समवर्ती सूची

१. दंड-विधि जिसके अंतर्गत वे सब विषय हैं जो इस संवि-विधान के प्रारम्भ पर भारत दण्ड-संहिता के अन्तर्गत हैं किन्तु सूची १ या सूची दो में उल्लिखित विषयों में से किसी से सम्बद्ध विषयों के विरुद्ध अपराधों को छोड़कर तथा असैनिक शक्ति के सहायतार्थ नौ, स्थल और विमानबलों के प्रयोग को छोड़ कर। २. दण्ड प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर दण्ड-प्रक्रिया-संहिता के अन्तर्गत हैं। ३ राज्य की सुरक्षा से, सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने से अथवा समुदाय के लिये अत्यावश्यक सम्भरणों और सेवाओं

को बनाये रखने से संसक्त कारणों के लिये निवारक निरोध, ऐसे निरुद्ध व्यक्ति। ४. कैदियों, अभियुक्त व्यक्तियों तथा इस सूची की प्रविष्टि ३ में उल्लिखित कारणों से निवारक निरोध में किये गये व्यक्तियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना। ५. विवाह और विवाह विच्छेद, शिशु और अवयस्क; दत्तक-ग्रहण, इच्छापत्र, इच्छापत्र हीनत्व और उत्तराधिकार, अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन, वे सब विषय जिनके सम्बन्ध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्ष इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे। ६. कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों का हस्तान्तरण, विलेखों और दस्तावेजों का पंजीयन। ७. संविदा जिनके अन्तर्गत भागिता, अभिकरण, परिवहन-संविदा और अन्य विशेष प्रकार की संविदायें भी हैं किन्तु कृषि भूमि सम्बन्धी संविदायें नहीं हैं। ८. अभियोज्य दोष। ९. दिवाला और शोधाक्षमता। १०. न्यास और न्यासी। ११. महाप्रशासक और राज न्यासी। १२. साक्ष्य और शपथें, विधि, सार्वजनिक कार्यों और अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों का अभिज्ञान। १३. व्यवहार प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर व्यवहार प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत हैं, परिसीमायें और मध्यस्थ-निर्णय। १४. न्यायालय-अवमान, किन्तु जिसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय का अवमान नहीं है। १५. आहिण्डन, अस्थिर वासी और प्रवासी आदिम जातियाँ। १६. उन्माद

और मनोवैकल्प जिसके अन्तर्गत उन्मत्तों और मनोविकलों के रखने या उपचार के स्थान भी हैं। १७. पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण। १८. खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं में अपमिश्रण। १९. अफीम विषयक सूची १ की प्रविष्टि ५९ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए औषधि और विष। २०. आर्थिक और सामाजिक योजना। २१. वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिपत्य, गुट्ट और न्यास। २२. व्यापार-संघ, औद्योगिक और श्रमिक विवाद। २३. सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, नौकरी और बेकारी। २४. श्रमिकों का कल्याण जिसके अन्तर्गत कार्य की शर्तें, भविष्य निधि, नियोजक उत्तरवादिता, कर्मकार-प्रतिकर, असमर्थता और वार्धक्य-निवृत्ति-वेतन और प्रसूति सुविधायें भी हैं। २५. श्रमिकों का व्यावसायिक और शिल्पी प्रशिक्षण। २६. विधिवृत्तियां, वैद्यक वृत्तियाँ और अन्य वृत्तियाँ। २७. भारत और पाकिस्तान की डोमिनियनों के स्थापित होने के कारण अपने मूल निवासस्थान से स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास। २८. पूर्त और पूर्त-संस्थाएँ, पूर्त और धार्मिक धर्मस्व और धार्मिक संस्थायें। २९. मानवों पशुओं और उद्भिदों पर प्रभाव डालनेवाले सांक्रामिक और सांसर्गिक रोगों और मारकों के एक राज्य से दूसरे में फैलने का निवारण। ३०. जीवन सम्बन्धी सांख्यकी, जिसके अन्तर्गत जन्म और मृत्यु का पंजीयन भी है। ३१. संसद-निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महापत्तन

घोषित पत्तनों से भिन्न पत्तन। ३२. राष्ट्रीय जलपथों के विषय में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अंतर्देशीय जलपथों पर यंत्रचालित यानों विषयक नौ वहन और नौ परिवहन तथा ऐसे जलपथों पर पथ नियम, तथा अन्तर्देशीय जलपथों पर यात्रियों और वस्तुओं का परिवहन। ३३. जहाँ संसद से विधि द्वारा किन्हीं उद्योगों का संघ द्वारा नियंत्रण लोकहित में इष्टकर घोषित किया गया है उन उद्योगों में व्यापार और वाणिज्य तथा उनका उत्पादन, सम्भरण और वितरण। ३४. मूल्य-नियन्त्रण। ३५. यंत्र चालित यान जिनके अन्तर्गत वे सिद्धान्त भी हैं जिनके अनुसार ऐसे यानों पर कर लगाया जाना है। ३६. कारखानें। ३७. बाष्प यन्त्र। ३८. विद्युत। ३९. समाचार-पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय। ४०. संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित से भिन्न पुरातत्व सम्बन्धी स्थान और अवशेष। ४१. विधि द्वारा निष्क्राम्य घोषित सम्पति की कृषि भूमि सहित अभिरक्षा, प्रबंध और व्ययन। ४२. संघ के या राज्य के या किसी अन्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिये अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिये प्रतिकर निर्धारण करने के सिद्धान्त तथा वैसे प्रतिकर के दिये जाने का रूप और रीति। ४३. किसी राज्य में उस राज्य से बाहर पैदा किये हुए करविषयक दावों तथा अन्य सार्वजनिक अभियाचनाओं की, जिसके अन्तर्गत भू-राजस्व बकाया और इस प्रकार वसूल की जानेवाली बकाया भी है, वसूली। ४४. न्यायिक मुद्रांकों द्वारा संग्रहीत शुल्कों या फीसों

को छोड़कर अन्य मुद्रांक शुल्क, किन्तु इसके अन्तर्गत मुद्रांक शुल्क की दरें नहीं हैं। ४५. सूची २ या सूची ३ में उल्लिखित विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिये जांच और सांख्यकी। ४६. उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर अन्य न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ। ४७. इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में फीसें, किन्तु इनके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जानेवाली फीसें नहीं हैं।

संविधान में संघ तथा राज्यों के विषय ऊपर स्पष्ट कर दिये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद २४८ के अन्तर्गत "संसद को ऐसे किसी विषय के बारे में, जो 'समवर्ती सूची' अथवा 'राज्यसूची' में प्रगणित नहीं हैं, विधि बनाने की अनन्य शक्ति है।" अनु० २४९ के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित में राज्य सूची के किसी विषय के बारे में भी संसद को विधि बनाने की शक्ति है। पर "संसद को, जबतक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिये राज्य-सूची में प्रगणित विषयों में से किसी के बारे में विधि बनाने की शक्ति होगी। विधायिनी शक्तियों के अतिरिक्त आपात की स्थिति में संघ को राज्यों का प्रशासनाधिकार राष्ट्रपति को सौंप देने की शक्ति है। अमेरिका के संविधान में राज्यों को अवशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं, फलत; वहाँ संघ और राज्यों में संघर्ष भी हुए हैं, अतः कनाडा ने अपने संविधान की धारा ९१ के अन्तर्गत वैसा ही उपबन्ध किया, जैसा कि हमारे संविधान में है। आस्ट्रेलिया के संविधान के तद्विषयक उपबन्धों में कनाडा और अमेरिका के उपलब्धों को लेकर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

बीसवाँ अध्याय

राजस्व सम्बन्धी व्यवस्थाएँ

राजनीति का मेरुदण्ड है अर्थनीति। राज्य की आय के स्रोत जितने विस्तृत होंगे और राज्य की आय जितनी अधिक होगी, राष्ट्र-निर्माण के कार्य में उतनी ही सुविधाएँ होंगी। अन्यथा जो कुछ भी आयके साधन होंगे उन्हीं के आधार पर राष्ट्रनिर्माण एवं शासन व्यवस्थाएँ संचालित होंगी।

जिस प्रकार एक लम्बे अरसे तक भारत के राजनीतिक एवं वैधानिक स्वरूप की कल्पनाएँ होती रही हैं, उसी प्रकार भारतीय राजस्व-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ भी रही हैं। भारत में केन्द्रीय शासन के पक्ष में ही अरसे तक राजनीतिक विचारधारा रही और इसी प्रकार एक लम्बे अरसे तक भारतीय राजस्व पर भी केन्द्र का ही नियंत्रण रहा और जिस प्रान्त में केन्द्र ने जैसी आवश्यकताएँ समझीं, उसी प्रकार उसने स्वेच्छापूर्वक बिना किसी प्रान्तीय अधिकार को मान्यता देते हुए, राजस्व का वितरण नहीं, व्यय किया। १८७७ ई० में लार्ड जान स्ट्रेची ने केन्द्र तथा प्रान्तों के अधिकारों की सीमा तथा राजस्व पर उनके अधिकारों का अनुपात निर्धारित किया और इसके पश्चात् १९०४ में लार्ड कर्जन ने इसी व्यवस्था को और भी सुव्यस्थित एवं वैज्ञानिक

स्वरूप देने का प्रयत्न किया। किन्तु इसका प्रथम और स्पष्ट प्रयत्न १६१६ ई० के शासन विधान में दिखायी पड़ा, जिसमें केन्द्र एवं प्रान्तों की सीमा निर्धारित कर दी गयी। इसी सिद्धान्त को १६३५ के शासन विधान में और स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त हुई। भारत के नये वर्तमान संविधान में इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। पिछले अध्याय में संविधान की सप्तम अनुसूची की जो तीन सूचियाँ हैं, उनमें भारतीय संघ, राज्य तथा समवर्ती सूचियों के अन्तर्गत संघ, राज्य तथा दोनों के समानाधिकारवाले विषयों को दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद २६६ के अनुसार कतिपय शुल्क एवं कर भारत सरकार के अधिकार में होंगे किन्तु इनसे होनेवाली आमदनी केन्द्रीय सरकार राज्यों में वितरित करदेगी। इसी प्रकार आय कर—इनकम टैक्स से होनेवाली आय का भी एक निश्चित भाग राज्यों की सरकारों को देदिया जायगा। संविधान के अनुच्छेद २७३ के अनुसार आसाम, विहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल को पाट के निर्यात् कर की आमदनी में से निश्चित भाग, जबतक वह आमदनी होती रहेगी, मिलता चलेगा। केन्द्र तथा राज्यों की आय के वितरण का अनुपात निर्धारित करने के लिये भारत सरकार द्वारा २६ नवम्बर १६ ६ को श्री चिन्तामणि देशमुख को नियुक्त किया गया और उन्होंने विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों से परामर्श कर ३१ जनवरी १६५० को अपनी रिपोर्ट देदी। भारत सरकार ने श्री देशमुख के सुझावों पर १६५०-५१ के वार्षिक वित्त विवरण-बजट में अपनी स्वीकृति

देदी। उसके अनुसार आय कर का वितरण विभिन्न राज्यों में इस प्रकार किया गया :—

बम्बई २१ प्रतिशत, मद्रास १७.५ प्रतिशत, पश्चिमी बंगाल १३.५, उत्तर प्रदेश १८, मध्य प्रदेश ६, पंजाब-५, बिहार १२-५, उड़ीसा ३ और आसाम ३ प्रतिशत।

देशी रियासतों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही व्यवस्था श्री बी०टी० कृष्णमचारी के सुझावों को स्वीकार करते हुए १ अप्रैल १९५० से कर दी गयी है। भावी व्यवस्थाओं के लिये संविधान में यह भी उपबन्ध है कि १९५२ ई० से पूर्व राष्ट्रपति एक अर्थ-आयोग का गठन करेंगे जिसमें एक अध्यक्ष के अतिरिक्त चार सदस्य होंगे और वे छानबीन कर अपना सुझाव उपस्थित करेंगे कि संघ तथा राज्यों में राजस्व का विभाजन और वितरण किस प्रकार हो। प्रति पाँचवें वर्ष इसी प्रकार के आयोगों की नियुक्ति के लिये भी उपबन्ध हैं।

राजस्व से संसद्, विधि द्वारा, अग्रदाय के रूप में अनुच्छेद २६६ और २६७ के अन्तर्गत "भारत की आकस्मिकता-निधि" नाम से ज्ञात आकस्मिकता-निधि की स्थापना कर सकेगी जिसमें ऐसी विधि द्वारा निर्धारित राशियाँ, समय-समय पर, डाली जायेंगी, जिसमें से राष्ट्रहित में आकस्मिक आवश्यकताओं में अग्रिम धन देने के लिये राष्ट्रपति को योग्य बनाने के हेतु उक्त निधि राष्ट्रपति के हाथ में रखी जायेगी।

—:o:—

इक्कीसवां अध्याय

सरकारी नौकरियाँ

शासनसूत्र निर्विघ्न चलता रहे, कार्य की परम्पराओं की शृङ्खला टूटने न पाये और राजनीतिक दलों की विजय और पराजय से शासनसूत्र के अङ्ग अव्यवस्थित एवं विशृङ्खल न होजायें, इसलिये लोकतंत्रात्मक शासनप्रणाली के अन्तर्गत कतिपय निश्चित सरकारी नौकरियों की व्यवस्था की जाती है। हमारे देश में ब्रिटिश शासनकाल में इण्डियन सिविल सर्विस सबसे प्रमुख सरकारी नौकरी की व्यवस्था थी और उसके कार्य में बाधा न पहुंचे इसलिये उसकी पूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था भी भारत सचिव के अधीनस्थ थी। इण्डियन सिविल सर्विस बदनाम रही है और उसका प्रधान कारण यह रहा है कि उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय नहीं रहा। किन्तु वास्तविक तथ्य को हमें विस्मृत नहीं करना चाहिये। सिविल सर्विस के कर्मचारियों की नियुक्ति जिनके द्वारा होती; उन्हीं के प्रति उनकी आस्था भी प्रत्याशित थी, अतः उनमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव स्वाभाविक परिणाम था।

भारत की सरकारी नौकरियों के वर्तमान संगठन में इंडियन सिविल सर्विस के स्थान पर इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस का गठन किया गया। यह नाम का रूपान्तर है; साथ ही इसकी आस्था भी राष्ट्रीय सरकार के प्रति है, क्योंकि यह उसकी उपज है। इंडियन पुलिस सर्विस की व्यवस्था ज्यों की त्यों रखी गयी

है। यह नौकरियाँ केन्द्र के अधीन हैं और संघीय सेवा-आयोग — यूनियन पब्लिक सर्विस कमिशन द्वारा उनकी नियुक्तियों की व्यवस्था है। देश की स्वाधीनता के साथ-साथ भारत के वैदेशिक सम्बन्ध के लिये दूतावासों, राजदूतों, कूटनीतिज्ञों तथा ऐसे कई पदों के लिये तद्विषयक विशेषज्ञों की आवश्यकता हुई, अतः एक इंडियन फारेन सर्विस का भी गठन किया गया। उक्त तीनों प्रमुख अखिल भारतीय नौकरियाँ हैं, इनके अतिरिक्त कतिपय और भी सैनिक एवं असैनिक नौकरियाँ हैं जो केन्द्र के अधीनस्थ हैं। Indian Audit and Accounts Service, The Military Accounts Department, The Indian Railway Accounts Service, The Indian Costoms and Excise Service, The Income Tax officers आदि कतिपय नौकरियाँ केन्द्रीय हैं।

केन्द्रीय नौकरियों के अतिरिक्त कतिपय नौकरियाँ प्रान्त-व्यापी हैं। सिविल, पुलिसः शिक्षा, इञ्जीनियरिङ्ग, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, पशु चिकित्सा एवं वन सम्बन्धी प्रान्तीय नौकरियाँ हैं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय लोक-सेवा आयोगों—पब्लिक सर्विस कमिशन द्वारा उक्त नौकरियों की नियुक्तियों की व्यवस्था संविधान में की गयी है जिससे निष्पक्ष भाव से योग्यता की प्रतियोगिता के आधार पर कुशल एवं विशेषज्ञ व्यक्तियों की नियुक्तियाँ सम्भव हों और पक्षपात की नीति से अयोग्य व्यक्ति शासन व्यवस्था को निर्बल न करें। ऐसी नौकरियों के लोग सुरक्षित रहें, और राजनीतिक दलों का उनपर प्रभाव न पड़े, इसलिये उक्त नौकरियाँ स्थायी हैं। सैनिक नौकरियों के सम्बन्ध में पृथक व्यवस्थाएँ हैं।

—:o:—

बाईसवाँ अध्याय

स्वायत्त शासन

भारत में स्वायत्तशासन अथवा स्थानीय स्वशासन का इतिहास उत्साहवर्द्धक नहीं रहा है। स्वायत्त शासन कतिपय स्थानों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र विफल रहा है और इसकी विफलता के मूल कारणों में कुछ ब्रिटिश सरकार की कुनीति रही और कुछ अपनी दुर्नीति एवं अयोग्यता। स्वायत्त शासन प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक के लिये अपने कर्तव्यपालन का प्रश्न उठता है और शिक्षा का अभाव तथा तज्जन्य अयोग्यताओं एवं अन्य कारणों से अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तियों ने तद्विषयक इतिहास की रचना इस रूप में नहीं की हमें उसपर गर्व होने का कारण हो। स्वायत्त शासन प्रणाली की विफलताओं को देखते हुए उत्तर प्रदेश, बम्बई आदि प्रान्तों में तत्सम्बन्धी जाँच के परिणामों ने स्पष्ट किया है कि जनता के स्थानीय प्रतिनिधियों की अयोग्यता, दलबन्दी तथा स्वार्थपरता के कारण उक्त व्यवस्थाओं की विफलता हुई। उत्तर प्रदेश की कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि ग्रामों और कस्बों की स्थिति बड़ी ही निराशाजनक है। स्वायत्त शासन का संचालन करनेवाले जो यंत्र हैं, उनसे जनता की उन्नति असम्भव है। जिला बोर्डों एवं म्यूनिसपैलिटियों के कार्य सर्वथा

निर्जीव एवं निरर्थक प्रमाणित हुए हैं और दोनों ही झगड़े का घर हैं। १९१९ से १९३७ तक की स्थिति प्रायः सर्वत्र ऐसी ही रही है।

१९३५ के शासन विधान के अन्तर्गत १९३७ में जब कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के हाथ में शासनसूत्र आया तब स्वायत्त शासन प्रणाली को पुनर्गठित और विकसित कर उसे उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया। और यही उक्त शासन प्रणाली का मूल उद्देश्य भी है। सर्व प्रथम लार्ड रिपन ने १८८२ ई० में इस प्रणाली की स्थापना का उद्देश्य बताते हुए कहा था कि जनता को राजनीतिक शिक्षा देना तथा सुयोग्य व्यक्तियों का शासन में हाथ बँटाना ही इसका मूल लक्ष्य है। किन्तु इन उद्देश्यों की पूर्त्ति नहीं होसकी, क्योंकि सरकार ने भी उन्हें विकसित करने का पूर्ण अवसर एवं सुविधा नहीं दी। प्राचीन भारत में स्वायत्त शासन प्रणाली का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंचा हुआ बताया जाता है और कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र में एतद्विषयक अत्यन्त विशद वर्णन किया है। हिन्दू शासन नीति के अन्य आचार्यों ने भी ऐसा ही अभिमत व्यक्त किया है। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के तीन निगमों तथा ७८१ नगर-पालिकाओं का गठन किया गया। समय-समय पर आवश्यकतानुसार उनके विधि-विधान में परिवर्तन भी होते गये। उनके अधिकार एवं कर्त्तव्य की सीमायें भी विस्तृत होती गयीं। नगर-पालिकाओं के अतिरिक्त सुधार प्रन्यासों को भी गठित किया गया और उनके जिम्मे नागरिकों के कल्याण के लिये कतिपय

उत्तरदायित्व भी सौंपे गये। कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास के समुद्र वर्ती नगर होने के कारण उनमें पत्तन प्रन्यासों की भी व्यवस्था की गयी। इनका मुख्य कार्य पत्तन सम्बन्धी वाणिज्य व्यवसाय की व्यवस्था तथा तद्विषयक कर की वसूली है।

स्वायत्त शासन प्रणाली के अन्तर्गत जिन संस्थाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके कार्यों के अन्तर्गत, सड़कों का निर्माण, सफाई, जल व्यवस्था, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सतर्कतामूलक व्यवस्था, बाजार, हाट आदि का नियंत्रण तथा उनकी आय के साधन कर, चुँगी, यातायात का टैक्स आदि हैं। नये संविधान के अनुसार ग्राम पंचायतों का गठन, व्यवस्था तथा उन्हें स्वावलम्वी बनाने के साधनों की खोज आदि के सम्बन्ध में राज्यों तथा स्थानीय सरकारों की सीमाओं के भीतर तद्विषयक व्यवस्थाएँ हैं। ग्राम पंचायतों को अपनी सीमा में नागरिक जीवन को सुव्यवस्थित करने का अधिकार सौंपा गया है और उन्हें साधारण दीवानी और फौजदारी अदालत के भी अधिकार हैं। प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों का गठन सामाजिक कल्याण के लिये बहुत ही वैज्ञानिक प्रणाली पर होता था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत यह संस्थाएँ मर गयीं और उन्हें पुनर्जीवित करने का कोई प्रयत्न किया गया तो उसे भी नौकरशाही ने प्रोत्साहन नहीं दिया। उसे सभी संगठनों में अपने विरुद्ध षड्यंत्र की ही गंध मिलती थी।

ग्राम पंचायतों का गठन निश्चय ही बहुत कल्याणकारी है, किन्तु देशमें अशिक्षा का ऐसा अन्धकार है कि वे पंचायतें फिल-

हाल उपयोगी कार्य करने में असमर्थ हैं। शिक्षा के अभाव म उनमें विवेकशीलता तथा नागरिक उत्तरदायित्व का अभाव है। लोकतंत्रात्मक शासन की पहली सीढ़ी ग्राम पंचायत है, और गणतंत्र की सफलता के लिये शिक्षा प्रधान साधन है। किन्तु इसका अभाव है, अतः ग्राम पंचयतों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की फिलहाल आशा नहीं की जासकती। स्वायत्त शासन प्रणाली यद्यपि अबतक प्रायः विफल ही रही है, किन्तु इसकी उपयोगिता सन्देह रहित है और अनेक उन्नत देशों में यह प्रणाली खूब विकसित हो चुकी है और इससे शासन तंत्र को बड़ी सहायता प्राप्त होती है। हमारे देश में अभी इसका नया प्रयोग है और वर्तमान उत्साहवर्द्धक भले ही न हो, भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है।

संविधान का संशोधन

३६८. इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिये विधेयक को संसद के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसको अनुमति के लिये रखा जायेगा। तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दीजाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जायेगा। परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—

(क) अनुच्छेद ५४, अनुच्छेद ५५, अनुच्छेद ७३, अनुच्छेद १६२, या अनुच्छेद २४१ में, अथवा (ख) भाग ५ के अध्याय ४, भाग ६ के अध्याय ५, या भाग ११ के अध्याय १ में; अथवा (ग) सातवीं अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा (घ) संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, अथवा (ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धों में, कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करनेवाले विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिये उपस्थित किये जाने के पहिले उस संशोधन के लिये प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में उल्लिखित राज्यों में से कम-से-कम आधों के विधान-मंडलों का उस प्रयोजन के लिये उन विधानमण्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।

द्वितीय अनुसूची

[अनुच्छेद ५९ (३), ६५ (३), ७५ (६), ९७, १२५, १४८ (३), १५८ (३), १६४ (५), १८६ और २२१)

भाग (क)

१. राष्ट्रपति तथा प्रथम अनुसूची के भाग (क) में उल्लिखित राज्यों के राज्यपालों को निम्नलिखित उपलब्धियाँ प्रति मास दी जायेंगी। अर्थात्—

राष्ट्रपति को १०००० रुपया; राज्य के राज्यपाल को ५५०० रुपया

२. राष्ट्रपति तथा इस प्रकार उल्लिखित राज्यों के राज्यपालों को ऐसे भत्ते भी दिये जायेंगे जैसे कि क्रमशः भारत डोमीनियन के गवर्नर जेनरल को तथा

तत्स्थानी प्रान्तों के गवर्नरों को इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले देय थे। ३. राष्ट्रपति तथा ऐसे राज्यों के राज्यपालों को अपनी-अपनी सम्पूर्ण पदावधि में ऐसे विशेषाधिकारों का हक्क होगा जैसे कि इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले क्रमशः गवर्नर जेनरल तथा तत्स्थानी प्रान्तों के गवर्नरों को था। ४. जब कि उपराष्ट्रपति अथवा कोई अन्य व्यक्ति राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन अथवा उसके रूप में कार्य कर रहा है अथवा कोई व्यक्ति राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन कर रहा है तब उसको वैसी ही उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का हक्क होगा जैसा कि यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल को है जिसके कृत्यों का वह निर्बहन करता है अथवा यथास्थिति जिसके रूप में वह कार्य करता है।

भाग (ख)

संघ के तथा प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में के राज्यों के मंत्रियों के सम्बन्ध में उपबन्ध। ५. संघ के प्रधान मन्त्री तथा अन्य मंत्रियों में से प्रत्येक को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि क्रमशः भारत डोमीनियन के प्रधान मंत्री तथा अन्य मंत्रियों में से प्रत्येक को इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले देय थे। ६. प्रथम अनुसूची के भाग (क) या भाग (ख) में उल्लिखित प्रत्येक राज्य के मंत्रियों को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जैसे कि यथास्थिति तत्स्थानी प्रान्त या तत्स्थानी देशी राज्य के ऐसे मंत्रियों को इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले देय थे।

भाग (घ)

उच्चतम न्यायालय तथा प्रथम अनुसूची के भाग (क) में के राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में उपबन्ध। ९. (१) उच्चतम न्याया-

राज्य के न्यायाधीशों को वास्तविक सेवा में बिताये समय के बारे में निम्नलिखित दर से प्रति मास वेतन दिया जायेगा अर्थात् मुख्य न्यायाधिपति ५००० रुपया, कोई अन्य न्यायाधीश ४००० रुपया; परन्तु यदि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को अपनी नियुक्ति के समय भारत सरकार की या उसकी पूर्ववर्ती सरकारों में से किसी की अथवा राज्यकी सरकार की अथवा उसकी पूर्ववर्ती सरकारों में से किसी की पहिले की गयी सेवा के बारे में (निर्योग्यता या क्षत-पेन्शन से अतिरिक्त) कोई निवृत्ति-वेतन मिलता हो तो उच्चतम न्यायालय में सेवा के बारे में उसके वेतन में से निवृत्ति-वेतन की राशि घटा दी जायगी। २. उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को, बिना किराया दिये, पदावास के उपयोग का हक होगा। १०. (१) प्रथम अनुसूची के भाग (क) में उल्लिखित प्रत्येक राज्य में के उच्चन्यायालय के न्यायाधीशों को वास्तविक सेवा में बिताये समय के बारे में निम्नलिखित दर से प्रतिमास वेतन दिया जायगा; अर्थात् मुख्य न्यायाधिपति ४००० रु० कोई अन्य न्यायाधीश ३५०० रु०। १२. (१) भारत के नियंत्रक महालेखा-परीक्षक को चार सहस्र रुपये प्रतिमास की दर से वेतन दिया जायगा।

भाषा

संविधान की अष्टम अनुसूची में भारतीय भाषाओं के विषय में अनुच्छेद ३४४ (१) और ३५१ के अधीन कतिपय उपबन्ध हैं, उनके अनुसार निम्न भाषाएँ स्वीकृत हैं :—

१. असमियाँ २. उड़िया ३. उर्दू ४ कन्नड ५ कश्मीरी ६. गुजराती ७. तामिल ८. तेलगू ९. पंजाबी १०. बंगला ११. मराठी १२. मलयालम १३. संस्कृत १४. हिन्दी।

भारत और संयुक्त राष्ट्रमण्डल

भारतीय संविधान में भारत राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय नीति एवं लक्ष्य की भी घोषणा राष्ट्र के नियामक सिद्धान्तों के अन्तर्गत कर दी गयी है। विश्वशान्ति हमारे राष्ट्र का लक्ष्य एवं युद्ध का अन्त उसका साधन है। इसीलिये हमारे नियामक सिद्धान्तों में यथा सम्भव मध्यस्थता की नीति की घोषणा की गयी है। भारत इसी सद्भावना की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रमण्डल का सदस्य है और मण्डल की विफलताओं तथा कतिपय विषयों में उसकी अवांछ-नीय नीति को देखते हुए भी भारत भावी आशा में उसका सदस्य बना हुआ है। युद्ध के मामले में वह यथा सम्भव तटस्थ रहना चाहता है और सभी राष्ट्रों के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखना चाहता है। हमारा संविधान इस प्रकार अहिंसात्मक गाँधीवाद की सुदृढ़ आधार-शिला पर अवस्थित है।

—:o:—